UNIVERSAL LIBRARY
OU_178393
UNIVERSAL LIBRARY

हिन्दी-प्रचार पुस्तक-माला, पुष्प —२६

प्राचीन-पद्य-संग्रह

संग्रहकर्ता
श्रीरामानन्द शर्मा

प्रकाशक
दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा,
मद्रास

प्रथमबार १५००] १९३४ [मूल्य १-२-०

मुद्रक
हिन्दी प्रचार प्रेस,
ट्रिप्लिकेन, मद्रास.

प्रकाशक के दो शब्द !

इस "प्राचीन-पद्य-संग्रह" को दक्षिण भारत के हिन्दी-साहित्य-प्रेमी पाठकों और विद्यार्थियों के सामने प्रस्तुत करते हुए हम अत्यन्त आनन्द का अनुभव कर रहे हैं। सुयोग्य साहित्य-मर्मज्ञ हिन्दी-प्रचारक पण्डित श्री रामानन्द शर्मा ने हमारे अनुरोध से बड़े ही परिश्रम और मनोयोग के साथ यह सुन्दर संग्रह सम्पादित किया है। आपका लिखा हुआ "विहंगावलोकन" जिसमें हिन्दी के प्राचीन साहित्यका संक्षेप में किन्तु स्पष्ट और मनोहर शैली में इतिहास और कवि-परिचय सम्मिलित है मनन करने की सामग्री है। हिन्दी की प्राचीन कविता की ऐसी अच्छी संग्रह-पुस्तक तैयार करने के उपलक्ष्य में संग्रहकार बधाई के पात्र हैं। आजकल दक्षिण भारतीय स्कूल-कालेजों में भी हिन्दी की उच्च शिक्षा का पाठय-क्रम निर्धारित होता जा रहा है, अतः आशा है कालेजों के छात्रों को हिन्दी-काव्य-सुधा के रसपान करने में यह 'संग्रह' एक बढ़िया पान-पात्र के समान सहायक होगा।

कृतज्ञता - प्रकाश

इस "प्राचीन-पद्य-संग्रह" की तैयारीमें मुझे सुख्यात विद्वान मिश्रबन्धु, पं. रामचन्द्र शुक्ल, पं. रामनरेश त्रिपाठी, वियोगी हरि, विचारदास शास्त्री, बाबू श्याम सुन्दरदास—आदिके ग्रन्थोंसे काफी सहायता मिली है। एतदर्थ मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता उनके प्रति प्रकट करता हूँ। साथ ही कवियों तथा उनके पद्योंका चुनाव, पंक्ति-संख्याका निर्द्धारण, भाषा तथा शैलीका प्रयोग, शब्दार्थ-संग्रहका संयमन-नियमन—आदि काम 'सभा' के परीक्षा-मंत्री पंडित अवधनन्दनके सत्परामर्शसे हुए हैं। एतदर्थ यह हृदय भाई अवधनन्दनजीका अत्यन्त आभारी है।

मद्रास,
१५-६-३४.

श्रीरामानन्द शर्मा.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठसंख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
ii	१४	भागों को	भागों में
२२	१२	भाड़	भीड़
२४	१	सं. ११४०	सं. १५४०
२७	२०	भिल	मिल
६७	१९	न वेला	नवेला
७९	९	नबन	नबैन
९४	५	१५०७	१९०७

विषय - सूची

---

(१)	विहंगावलोकन	i
(२)	कबीरदास	१
(३)	सूरदास	२४
(४)	तुलसीदास	४०
(५)	रहीम	५९
(६)	केशवदास	६८
(७)	रसखान	७६
(८)	बिहारी	८१
(९)	भूषण	८७
(१०)	हरिश्चन्द्र	९४
(११)	चयनिका	१०९
(१२)	शब्दार्थ	१२५

विहंगावलोकन

(उपक्रम)

हिन्दीका प्राचीन साहित्य एक विराट वनस्थली है। विक्रमकी * आठवीं शताब्दीके आरंभमें ही अवंतीके राजा 'मान' के दरबारमें 'पुष्य' नामका एक बंदीजन था। उस दूरदर्शी कविने दोहोंमें अलंकार-ग्रन्थकी रचना करके हिन्दी-साहित्यके निर्माणका श्रीगणेश किया। 'पुष्य' का वह बीज तो मिट्टीमें मिलकर अपना अस्तित्व खो बैठा, लेकिन उससे जो अंकुर निकला, वह, एक हजार वर्षमें, लगभग साढ़े तीन हजार कवियोंके द्वारा

---

* उत्तर भारतमें विक्रम संवत और नर्मदा नदीके दक्षिण भारतमें शक संवतका प्रचार है। ईसवी सन्‌के ५७ वर्ष पहले सम्राट् विक्रमादित्यने उत्तर भारतमें जो संवत्सर चलाया उसी को विक्रम संवत कहते हैं। भारतवासी परम्परासे मानते आए हैं कि उज्जयिनी और पाटलिपुत्रके सम्राट् विक्रमादित्यने विदेशी यवन शकों और विधर्मी बौद्धों तथा जैनोंको जीतकर कलिकालमें अश्वमेध यज्ञ किया था। इसी यज्ञकी स्मृतिमें विक्रम संवत्सरका आरम्भ है। उत्तर भारतमें यह धार्मिक संवत् माना जाता है। हिन्दी साहित्यमें यही संवत् प्रचलित है। हमने भी इस 'संग्रह' में उसीका प्रयोग किया है। जो लोग ईसवी सन् जानना चाहें वे विक्रम संवत्‌में ५७ वर्ष घटाकर ईसवी सन् निकाल लें।

सिंचित होकर, आज दिंगत-विस्तृत श्याम वन-श्रेणीमें बदल गया। उसका पूर्ण दिग्दर्शन इस छोटे-से निबंधमें अत्यंत असाध्य है। अतएव पंछीकी तरह पंखोंको फैलाकर हम सैलानी पाठकोंको अपने साथ उड़ा ले चलते हैं—साहित्यके उस असीम अरण्यके ऊपर जिस-से एक उड़ती नजर डाली जाए।

(काल-क्रम)

साहित्य लोक-रुचिकी संचित प्रतिच्छाया है। यह लोक-रुचि राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साम्प्रदायिक अवस्थाओंके कारण बदलती रहती है। साहित्यमें इस हेर-फेरकी परछाँहीं पड़ती रहती है। चित्त-वृत्तिकी इस परम्पराको साहित्य-परम्पराके साथ परीक्षा और मिलान करके ही हम साहित्यके इतिहास-का कुछ पता पा सकते हैं। जनताकी अभिरुचिका स्पन्दन, उसके मूल स्रोतका संचार और उसके भरण-पोषणके कारणोंपर नजर रखते हुए हम हिन्दी-साहित्यके एक सहस्र वर्षको, मोटा-मोटी, पाँच भागोंको बाँटते हैं :—

१—आदिकाल—७७० से १०५० वि. सं.

२—वीरगाथा काल—१०५० से १३७५ ,,

३—भक्ति काल—१३७५ से १७०० ,,

४—रीति काल—१७०० से १९०० वि. स.

५—आधुनिक काल—१९०० से १९९१ ,,

रचनाओंकी रुचि-प्रधानताके कारण ही इस तरहके काल-क्रम किये जा सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि किसी विशेष 'काल' में उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषयकी रचना हुई ही नहीं। वीरगाथाके समय भी शृंगार तथा भक्ति-रसकी रचना हुई है, उसी तरह भक्ति-कालमें भी वीर-रसकी रचना पाई जाती है। हाँ, रचनाकी बहुलताके कारण उनकी प्रधानता मानी गई है, जिससे जनताकी मनोवृत्तिकी धाराका वेग सहज ही जाना जाए।

आदिकाल

(७७० से १०५०)

भारतकी आर्य-जनताकी आदिम बोलीका नाम ' प्राकृत ' था। बहुत समय तक बोली जानेके बाद ही किसी भाषामें साहित्यकी सृष्टि होती है। ' वैदिक साहित्य ' उस मूल प्राकृतका कुछ सुधरा हुआ रूप है। साहित्य-निर्माण शिक्षित एवं शिष्ट जनों द्वारा ही होता है। अतः साहित्यमें आकर जनताकी साधारण बोली अवश्य कुछ परिष्कृत हो जाती है। जब साहित्यका सृजन अधिकतासे होने लगता है, तब उसके नियमित पठन-पाठनसे साधारण लोगोंकी साधारण भाषामें संघर्ष होता है और साहित्यिक भाषाका प्रभाव धीरे-धीरे उसपर पड़ने लगता है। शिक्षाके सम्यक् प्रसारसे जनताकी भाषा परिष्कृत होती रहती है। फिर उस परिमार्जित भाषामें जब साहित्यिक रचना होती है, तब पहलेके साहित्यसे उसकी भाषा कुछ भिन्न हो जाती है। ' ब्राह्मण ', ' आरण्यक ', ' उपनिषद '—आदिकी भाषा, इसीसे, ऋग्वेदकी भाषासे अधिक साफ-सुथरी दीख पड़ती है। कभी-कभी संस्कारका यह कार्य तबतक चलता रहता है, जबतक जीवित भाषा व्याकरणके शिकंजोंमें जकड़कर मृतवत् न हो जाए। एक बार इस भाषा-संस्कार-कार्यमें ऐसी हलचल पैदा हुई—ऐसा तूफान उठा, कि उस सुधरी हुई भाषाका नाम ही ' संस्कृत ' पड़ गया। इस तरह

सुधरी हुई भाषा जनताकी प्राकृत भाषासे भिन्न होती है। मूल प्राकृत से 'वैदिक', फिर कई परिवर्तनोंके पश्चात्, उसी प्राकृतसे 'संस्कृत' बनी। फिर भी, प्रकृतिके अन्य अबाधित कार्योंकी तरह जनताकी बोली 'प्राकृत' अपने स्वाभाविक वेगसे फैलती ही गई। यह तो कभी संभव नहीं था, कि साधारण जनताकी मातृ भाषा 'संस्कृत' हो जाती। भाषाके प्रवाहको कोई बाँधकर, सदाके लिए, दूसरी दिशामें मोड़ नहीं सकता। 'आनीकट' (बाँध) बनाकर उससे मन-मानी नहरें निकाली जा सकती हैं—थोडेसे शिक्षित जन-समूह, प्रयत्न करके, प्राकृतके बदले संस्कृतको अपना ले सकते हैं—थोड़ी दूरतक उसकी धारा बहाकर हृदय-मस्तिष्क-की सिंचाईका काम भी उससे ले सकते हैं—उसके बीच अनेक कृत्रिम द्वीप, उद्यान, नगर, नुमाइश रच सकते हैं—फिर भी वे नदीकी स्वाभाविक धाराको बदल नहीं सकते। वर्षा-काल आवेगा, चारो ओरसे पानी आकर उस बाँधके पास जमा होगा, देखते-देखते बनावटी रुकावटके ऊपरसे सरिता हाहाकार करती हुई उमड़ पडेगी। संस्कृतके वैयाकरणोंकी रोक-थामसे स्वयं संस्कृत ही शिथिल हो गई। प्राकृत तो पनपती ही रही।

भगवान बुद्ध क्रान्ति करने आए थे। भावके साथ भाषामें भी क्रान्ति हुई। उन्होंने धार्मिक भाषा संस्कृतकी उपेक्षा कर के जनताकी भाषामें उपदेश दिए। उस भाषाका नाम हुआ 'पाली'। जैनाचार्योंने भी वही काम किया—लोगोंकी

साधारण बोलीमें अपने ग्रन्थ रचे। देश, काल और अवस्थाओं-के अनुसार भाषाके रूपमें भिन्नता होना आवश्यक ही था। भाषाके उन भिन्न-भिन्न रूपोंका नाम पड़ा—'अपभ्रंश'। हिन्दी-साहित्य इन्हीं अपभ्रंशोंके गर्भसे पैदा हुआ। गर्भमें कुछ समय तक अदृश्य रहना पड़ता है। साधारणतया बाहरसे उसकी रूप-रेखा जानी नहीं जाती। हिन्दीके आदि कवि 'पुष्य' की जो चर्चा उपक्रममें की गई है, वह उसी गर्भावस्थाका जिक्र है। "सरोज" के लेखक 'शिवसिंह' ने उसकी कथा अपने ग्रंथमें कही है अवश्य, किन्तु पुष्यके उस ग्रन्थका अभी तक पता नहीं चला है। हिन्दी-की यह अज्ञातावस्था तीन शताब्दियों तक चली आई।

संवत् ९९० विक्रमाब्दमें देवसेन नामक एक जैन ग्रन्थ-प्रणेताने 'श्रावकाचार' नामक एक पुस्तक दोहोंमें रची जिसकी भाषामें धूप-छाँहकी तरह 'हिन्दी' गंगा-जमुनी धारामें बह रही है। प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्रके "सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन" में भी अनेक उद्धृत पद इसके उदाहरण हैं। बानगी लीजिए:—

"भल्ला हुआ जु मारिया, बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥"

(भला हुआ जो मारा गया, बहिन, हमारा कांत। यदि वह भागा घर आता तो मैं अपनी सखियोंमें लज्जित होती।)

महा० म० श्रीहरप्रसादजो शास्त्रीने योग-मार्गी बौद्धोंके

पुराने 'सहजिया' सम्प्रदायकी कुछ पुरानी रचनाओंका संग्रह 'बौद्ध गान ओ दोहा' नामसे प्रकाशित किया है। उसमें 'सरोजवज्र' कविकी रचनाकी बानगी देखिए:—

"जहि मन पवन न संचरइ, रवि-ससि नाहिं पवेस।
तहि वट चित्त बिसाम करु, 'सरहें' कहिअ उवेस॥"

शास्त्रीजी इन दोहोंको हजार वर्ष पुराना मानते हैं। इसमें हिन्दी अपभ्रंशकी गोदमें खेलती दीख पड़ती है।

सं. १००० वि. में 'भुवाल' कवि भगवद्गीताके अनुवादमें इस प्रकार लिखता है:—

"संवत कर अब करौं वखाना; सहस्र सो संपूरन जाना।
माघ मास कृष्णा पख भयऊ; दुतिया रबि तृतिया जो भयऊ॥
तेहि दिन कथा कीन मन लाई; हरि के नाम गीत चित आई।
सुमिरौं गुरु गोबिन्द के पाऊँ, अगम अपार है जाकर नाऊँ॥
कहूँ नाम युत अंतरजामी, भगत भाव देहु गरुड़ागामी॥"

ऊपरके पद्योंमें कैसी साफ-सुथरी तथा निखरी हुई भाषा है। यह कवि युक्त प्रान्तका निवासी था। सं. १९७६ वि. की खोजमें मथुरामें यह पुस्तक पाई गई है। युक्त प्रान्तके निवासी होनेके कारण कविकी भाषामें राजस्थानी छाप नहीं है जिसकी अधिकता पुराने कवियोंमें पाई जाती है।

वीरगाथा काल

(१०५० से १३७५)

सम्राट हर्षवर्द्धनके बाद भारतवर्षमें साम्राज्य स्थापित करनेकी भावना नहीं रही। कोई शक्तिशाली सम्राट न होनेके कारण देश छोटे-छोटे राज्योंमें बँट गया और एक दूसरेपर अपना सिक्का जमानेके ख्यालसे उन खंड राज्योंमें परस्पर लड़ाई-भिड़ाई भी होने लगी। साथ ही उत्तर-पश्चिमकी ओरसे मुसलमानोंके हमले भी शुरू हुए। उस समय भारतका पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभवका केंद्र था। इसी कारण उधरकी भाषा शिष्ट समझी जाती थी और कवि-चारण रचना भी उसी भाषामें करते थे। हिन्दीके अभ्युत्थान-का यही समय तथा संयोग था। इसीसे इसके प्रारंभिक साहित्यमें पश्चिमी भारतकी जनताकी चित्त-वृत्तिकी छाप है। उस समयके कवि-चारण और भाट अपने राजाके पराक्रम, शत्रु-सुता-हरण, विजय आदिका अतिरंजित वर्णन करते थे। स्वयं रण-क्षेत्रोंमें जाते और अपने वीर-गीतोंसे योद्धाओंमें उत्साह-उमंग बढाते थे। उनका यही काम था, और इसीसे उनका सम्मान था। ऐसे समय 'वीरगाथा' को छोड़ साहित्यमें दूसरी बातें आतीं ही कैसे! यूरोपके प्रारंभिक साहित्यका भी यही हाल है। वीरता-प्रदर्शनके

प्रधान कारणोंमें 'प्रेम' का होना अनिवार्य होता था। लड़ाई किसी भी कारणसे क्यों न हो, उसमें किसी सुन्दरीका आकर्षण ही मुख्य माना जाता था। सौन्दर्यका संवाद सुना, मन लहरा उठा, सेना लेकर उसपर चढ़ गए। वीरताके वर्णनके साथ विरह और प्रेमके वर्णनका भी काफी मसाला मिल गया। इन वर्णनोंमें कल्पनाका ही अधिक विस्तार होता था, वास्तविकता बहुत ही अल्प।

प्रबंध काव्य और वीर-गीत—इन दो रूपोंमें वीर-गाथाएँ पाई जाती हैं। 'पृथ्वीराज-रासो' साहित्यिक प्रबंध काव्यका प्राचीन ग्रन्थ है, तथा 'बीसलदेव-रासो' वीर-गीतका। 'रासो' रसायण शब्दसे बना है। 'रसायण' शब्दका प्रयोग पहले काव्यके अर्थमें होता था।

रासो ग्रन्थोंमें सबसे पहले 'खुमान-रासो' का नाम आता है। इसमें चित्तौड़के राजा 'खुम्माण'से बगदादके खलीफा 'अलमामू' की लड़ाईका वर्णन है। 'दलपतविजय' इसका रचयिता है। 'खुम्माण' ने २४ युद्ध किए और सं. ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। परन्तु अभी जो उस नामकी पुस्तक मिलती है, उसमें महाराणा प्रतापसिंह तकका वर्णन है। जान पड़ता है, पीछेके कवियोंने असली पुस्तकमें बहुत कुछ मिला-जुला दिया है।

'बीसलदेव-रासो' में अजमेरके चौहान राजा 'बीसलदेव' के विवाह और उनके रूठकर उड़ीसा चले जानेका कल्पना-प्रधान वर्णन है। यह १०० पृष्ठका छोटा ग्रन्थ सिर्फ गाने लायक गीतोंमें रचा गया है। इसका कवि 'नरपतिनाल्ह' है। रचना-काल सं. १२१२ है। भाषा राजस्थानी है।

'पृथ्वीराज-रासो' का नायक 'पृथ्वीराज' दिल्लीका अन्तिम हिन्दू-सम्राट है; और उसका रचयिता है सम्राटका सहचर 'चंदबरदाई'। समस्त हिन्दी-जनताके हृदयमें इस कविका एक विशेष भावना-प्रधान स्थान है। हिन्दू-साम्राज्यका अन्त हो गया, उसका अन्तिम अधीश्वर भी अन्धा बनाकर मार डाला गया, उसका सच्चा साथी वह कवि भी अपने नायकके साथ चला गया, लेकिन हिन्दू-मात्र आज भी उसकी स्मृतिमें करुण अश्रु बरसाते हैं। इसीसे कल्पनाकी अतिमात्रा होनेपर भी 'पृथ्वीराज-रासो' हमारे हृदयमें एक स्थिर आसन जमाए हुए है। सच पूछा जाए, तो हिन्दीका यही आदि काव्य है और 'चंद' ही उसके आदि कवि हैं—ठीक वाल्मीकिकी तरह।

'चंद' पृथ्वीराजके सहचर थे। षड़ भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदः शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदिमें पारंगत थे। जालंधरी देवी की कृपासे 'अदृष्ट काव्य' भी करते थे। रचना-काल सं. १२२५ से १२४९। 'रासो' ढाई हजार पन्नोंमें

समाप्त हुआ है। ६९ अध्याय हैं। प्राचीन परम्पराके सभी छंदोंका प्रयोग है। छप्पय, दोहा, तोमर, त्रोटक, गाहा (गाथा,) आर्या—छंदोंकी प्रधानता है। शहाबुद्दीन गोरी, जब, पृथ्वीराजको कैदकर 'गजनी' ले गया, तब 'चंद' भी वहाँ पहुँचे। जाते समय 'रासो' अपने पुत्र 'जल्हन' को सौंपते गए। शेष कथा जल्हने ही लिखी।

"पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप-काज।"

'रासो' में आबूके यज्ञ-कुंडसे चार क्षत्रिय-कुलका पैदा होना, चौहान-वंशका अजमेरमें राज्य-स्थापन करना, जयचंदका राजसूय-यज्ञ करना, उसमें पृथ्वीराजका अपमान, संयोगिता-हरण, युद्ध, विजय, भोग-विलास, गोरीकी चढ़ाई, उसकी हार, अन्तमें पृथ्वीराजका हारना, पकड़ा जाना, शब्द-बेधी बाणसे गोरीका मारा जाना, फिर पृथ्वीराजका मारा जाना—आदिके अलावा और भी बहुतसे युद्धोंका वर्णन है। इतिहाससे 'रासो' का कोई मेल नहीं बैठता है। इसीसे कुछ विद्वान इसको जाली कहते हैं। रासोका एक पद्य देखिए:—

"मनहु कला ससभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस, ससि ता समीप अम्रित रस पिन्निय॥

बिगसि कमल-स्रिग, भमर, बेनु, खंजन, मृग लुट्टिय।
हीर, कीर, अरु बिंब, मोति नषसिष अहिघुट्टिय॥"

(ससभान=चंद्रमा। पिन्निय=पिया। अहिघुट्टिय=बनाया।

रासो-परम्पराके कई कवियोंको छोड़ते हुए हमारी दृष्टि ‘जगनिक’ के ‘आल्हाखंड’ पर रुक जाती है। कालिंजरके राजा ‘परमाल’ के यहाँ ‘जगनिक’ भाट सं. १२३० में रहता था। इसने महोबेके दो प्रसिद्ध वीरोंका चरित वीरगीतात्मक काव्यमें लिखा। ‘आल्हा’ और ‘ऊदल’ ही वे वीर थे। ये गीत ‘आल्हा’ नामसे मशहूर हैं और उत्तर भारतके समस्त हिन्दी प्रान्तोंमें अत्यन्त लोक-प्रिय हैं। अधिकतर बरसातके दिनोंमें आल्हा गाया जाता है और सिंह-गर्जनकी हुंकारके समान मुर्दोंमें जान फूँकता रहता है। गानेवाले ज्यादा करके मुसलमान ही होते हैं। ढोलकके गंभीर गर्जनमें जोश उमड़ता रहता है:—

“बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार।
बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवनके धिक्कार॥
बरिया चोर सेंधपर गरजे, औरो बोलै घघोट-घघोट॥”

‘आल्हा’ हम हिन्दी-वालोंके जीवनपर जादूका काम करता है। वीर-रसका संचार जन-साधारणमें जैसा ‘आल्हा’ करता है, वह अकथनीय है। यदि किसी समय वीरता दिखानेका मौका आया, तो ‘आल्हा’ सौ सेनापतियोंका काम करेगा। एक बार मुर्दा भी जी उठेगा इसके आलापसे। अपढ़, अशिक्षित, जिन्दगीके बोझसे पीड़ित, दीन-हीन जन-समूहमें ‘आल्हा’— कुछ देरके लिए वीरताका बवंडर उठा देता है—थोड़ी देरके

लिए उनकी कमर सीधी हो जाती है, और वीरत्व-प्रदर्शन करने को वे तड़फड़ा उठते हैं। उनकी धमनियोंमें खून दौड़ने लगता है :—

"खट् खट् खट् खट् तेगा बाजै, बाजै छपकि-छपकि तरवार।
धड धड धड धड गोला छूटै, धूँवा धूरि एक ह्वै जाय॥
सत-सर तीर करे धनुहनते, गोली फटकि-फटकि रह जाय।
भिरे सिपाही दोनों दलके अपनी खींचि-खींचि तरवार॥"

सदियोंसे गाए जानेके कारण 'आल्हा' का असली रूप अप्राप्य-सा हो गया है। प्रान्तीय बोलियोंके मिश्रण होते रहनेसे इसमें भिन्नता भी खूब आ गई है। 'जगनिक' ने कोई बड़ा ग्रन्थ बनाया होगा। 'आल्हा-खंड' नाम ही इसकी सूचना देता है। ६०, ७० वर्ष पूर्व मि. चार्ल्स इलियटने इन गीतोंका संग्रह करके छपवाया था। 'चार्लस' फर्रुखाबादका कलक्टर था। इनकी प्रेरणासे 'वाटर फील्ड' ने Ballad छंदमें "The Lay of Alha." नामसे अंगरेजीमें आल्हाका अनुवाद किया है।

दूसरी धाराएँ

काल-क्रमानुसार मुख्य प्रवाह 'वीरगाथा' का थोड़ा परिचय दिया गया। इस प्रधान प्रवाहके साथ दो दूसरी धाराओंका भी थोड़ा हाल जानना जरूरी है। अबतककी साहित्यिक भाषा पुरानी परिपाटीपर ही प्राकृतकी छायाको अपनाती आ रही थी—अपने समयकी बोलीको छोड़कर परंपराके गौरव-से युक्त, अपभ्रंशकी रूढ़ियोंसे जकड़ी भाषा ही साहित्यिक रचनाओंमें व्यवहृत होती थी। लेकिन बिहारके मैथिल कवि 'विद्यापति' और दिल्लीके मियाँ 'खुसरो' ने अपने समयकी बोलियोंको अपनाया और उसमें रचनाएँ कीं।

'विद्यापति' सं. १४६० में मिथिलाके राजा शिवसिंहके प्रिय-पात्र थे। अपने गुणों और गीतोंके कारण वे बिहारमें ही नहीं, सारे बंगाल और उड़ीसामें भी लोक-प्रिय हो गए। त्योहार, उत्सव, विवाह, उपनयन आदिके अवसरपर मैथिल नारियाँ जो गीत गाती हैं, उनमें 'विद्यापति' की पदावलियोंकी प्रचुरता देखकर उनकी लोक-प्रियताका अंदाज लगता है। यही नहीं, चैतन्य महाप्रभुके दिव्य देश 'बंग-भूमि' में इन गीतोंका इतना अधिक प्रचार हुआ कि भावुक बंगालियोंने विद्यापतिको 'बंगाली' मानकर 'बँगला' का जन्म-दाता ही बना लिया!

जिस समय 'विद्यापति' अवतीर्ण हुए थे, 'राधा-कृष्ण' की भक्ति-धारा बह रही थी। उसी समय बंगालके कवि जयदेवने गीत-गोविन्दकी रचना की थी। मुसलमानोंके साथ 'सूफी' सम्प्रदाय भी देशमें जम चुका था। दोनों ही स्त्री-पुरुषके रूपमें परमात्माकी उपासनाका प्रचार करते थे। दोनोंमें 'प्रेम' ही साधन था। प्रेमी-प्रेमिकाके रूपमें राधा-कृष्णका सामंजस्य आत्मा-परमात्मासे होता था। विजेता और विजित दोनों ही प्रेम-भक्तिकी धारा में बहने लगे। पीछे चैतन्यदेव, वल्लभाचार्य, नामदेव आदिने इसमें और भी प्रोत्साहन दिया। देखते-देखते भक्तिका यह पथ सार्वजनीन हो गया, और प्रेमका यह सिद्धान्त सर्व-व्यापी समझा जाने लगा।

सनातन शास्त्रोंका गूढ़ मर्म समझनेवाले, संस्कृत तथा देश-भाषाकी प्रगाढ़ विद्वत्ता रखनेवाले 'विद्यापति' हिन्दू-धर्मके सब देवी-देवतोंपर समान श्रद्धा रखते थे। इनकी पदावलीमें 'राधा-माधव' के भी गीत हैं, और 'शिव-शिवा' के भी। पदावलीकी भाषा शुद्ध मैथिली है।

"सखि हे, कि पुछसि अनुभव मोय?
से हो पिरीति अनुराग बखानइत तिलतिल नूतन होय॥
जनम-अवधि हम रूप निहारल, नयन न तिरपित भेल।
से हो मधुर बोल श्रवनहि सूनल, श्रुति-पथे परस न गेल॥

कत मधु यामिनि रभसे गमाओल, न बुझल कैसन केल ।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल, तइयो हिया जुड़ल न गेल ॥
कत विदग्ध जन रस अनुमोदइ, अनुभव काहु न पेख ;
'विद्यापति' कह प्राण जुडाइत, मिलय कोटिमें एक ॥"

संवत १३४० में खुसरोकी रचना शुरू हुई। फारसीके मशहूर लेखक और नामी कवि होनेपर भी साधारण बोलीमें कुछ कहनेकी इन्हें उत्कंठा हुई। इनकी 'पहेलियाँ' और 'मुकरियाँ' इनकी मिलनसारी, मसखरापन, और मौजी मिजाजका परिचय देती हैं। विदेशी होनेके कारण हिन्दीकी साहित्यिक परम्परासे इनको कोई उत्प्रेरणा नहीं मिल सकती थी। इसीसे अपने आस-पास (दिल्ली) के प्रचलित दोहों, तुक-बंदियों, पहेलियों-का ढंग अपनाकर इन्होंने रचनाएँ कीं। इनकी भाषा जन-साधारणकी (खड़ी बोली) होनेपर भी कुछ व्रजभाषाकी ओर झुकी हुई है। उस समयकी मुख-प्रचलित रचनाओंका यही ढंग था। इसीसे कई लोगोंको यह भ्रम हुआ कि खड़ीबोली (आधुनिक हिन्दी) व्रज-भाषासे पैदा हुई। लेकिन, बात वह नहीं है। खड़ी बोलीका स्वतंत्र अस्तित्व था, किन्तु जनताकी प्रचलित रचनाओं-में व्रज-भाषाकी छाया थी। यह बात अबतक भी पाई जाती है।

खुशरोके कुछ पद्य देखिए:—

"उज्जल बरन, अधीन वन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत में तो साधु है, निपट पाप का खान॥ १॥

खुशरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥ २॥

गोरी सोवै सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुशरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥ ३॥

एक नारने अचरज किया, साँप मार पिंजरे में दिया।
जौं-जौं साँप ताल को खाय, सूखे ताल, साँप मर जाए॥"

भक्ति काल

(१३७५ से १७००)

अब देशका स्वातंत्र्य नष्ट हो गया। मुसलमान जमकर राज्य करने लगे। हिन्दू राजा-गण सिर नवाकर दिल्लीश्वरको 'जगदीश्वर' कहने लगे। अब उनके आगे न युद्धकी भावना थी, न वीरताकी आवश्यकता। मजबूतकी लाठी सिरपर बैठी थी। अतएव देशसे वीर-घोष सदाके लिए लुप्त हो गया। हिन्दुओंके धार्मिक भावपर भी गहरा आघात हुआ। उनके परम्परासे पूज्य मन्दिर तोडे गए, मूर्त्तियोंपर हथौडे चलाए गए, और वे खडे देखते रह गए! उनका हृदय रो उठा, आँखोंके आगे अँधेरा छा गया। आश्चर्य बढ़कर शंकामें बदल गया—क्या इन देव-मूर्त्तियोंमें भगवान नहीं था? था, तो अपने भक्तों-की रक्षाको कौन कहे, अपनी ही रक्षा करने क्यों नहीं आया? गुजरातके 'सोमनाथ' कहाँ सो गए? आहत अभिमानसे हिन्दुओंकी आत्मा तिलमिला उठी। सहसा अविश्वासका आर्विभाव हुआ—लोगोंको अपने धर्म-कर्मपर अश्रद्धा-सी होने लगी। फल-स्वरूप मुसलमान विजेताओंका प्रभाव हिन्दुओंके हृदयपर पड़ने लगा।

साहित्यका संबंध भी राज-दरबारसे छूटकर जन-समाज-

से जुड़ गया। अपने एकान्त कुटीरोंमें बैठी स्तंभित जनता इन हलचलोंपर विचार करने लगी। पौरुषसे जब कुछ नहीं चला, देवी-देवतोंसे भी कोई सहायता नहीं मिली, तब भगवानकी करुणा और शक्तिकी आराधनाके अलावा अब चारा ही क्या रहा? ऐसे ही उपयुक्त समयमें जन-सागरसे मथित होकर संत-रत्नोंकी पैदाइश हुई। हिन्दीका साहित्य जानताकी चित्तवृत्तिका प्रतिबिंब इसी हेतु माना जाता है। भक्ति-कालका साहित्य ही हिन्दी साहित्य का मेरुदंड है। और वह है लोक-प्रवृत्तिका अमल आदर्श (दर्पण)।

दक्षिणके आचार्य श्रीरामानुजका भक्ति-मार्ग धीरे-धीरे फैल रहा था। १४ वीं शताब्दीमें स्वामी रामानन्दजी उस मार्गके मौलिक महात्मा हुए। प्रयाग-निवसी 'पुष्प सदन शर्मा' उनके पिता और 'सुशीला' उनकी माता थी। इनके गुरुवर थे काशी-वासी आचार्य श्री राघवानन्द। लोकोत्तर प्रतिभा तथा अद्भुत ज्ञान-गरिमासे युक्त रामानन्दजीने सारे भारतवर्षका भ्रमण करके अपने सम्प्रदायका प्रचार किया। श्रीरामानुजाचार्यके मतावलंवी होते हुए भी अपनी उपासना-प्रणाली इन्होंने अलग बनाई। वैकुंठ-वासी विष्णुके बदले इन्होंने लोक-पालक रामचन्द्र-का आश्रय लिया। 'राम' इष्ट देव, और 'राम-नाम' मूलमंत्र। इसके अलावा इस महात्माने भक्तिमें देश-भेद, वर्ण-भेद और जाति-भेद नहीं आने दिया। रामानुज-सम्प्रदायमें केवल द्विजाति-वर्ग ही दीक्षाके

अधिकारी माने जाते थे, पर रामानंदजीने सबोंके लिए यह द्वार खोल दिया। इनके शिष्योंमें जुलाहा, दर्जी, मोची, नाई—सभी वर्णोंके लोग थे। इन्होंने 'वैरागी-दल'का संगठन भी किया।

संस्कृतके महान विद्वान और लेखक होनेपर भी स्वामीजी देश-भाषाको न भूले। इनको दोनों तरहके लोगोंसे काम पड़ता था। विद्वानोंसे तर्क-वितर्क करनेमें संस्कृतका सहारा लेते थे, और जन साधारणमें उपदेश देते हिन्दीको अपनाते थे। हिन्दीमें कविता करके, उसमें उपदेश देकर, ये हिन्दीके 'आदि प्रचारक' बन गए हैं। इनकी कविताओंका पूरा पता नहीं लगता है। हनुमानजीकी स्तुतिका एक पद देखिए:—

"आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्ट-दलन रघुनाथ-कला की॥
जाके बल-भर ते महि काँपै। रोग-सोग जाकी सिमा न चाँपै॥
अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु-संतपर सदा सहायक॥
बाएँ भुजा सब असुर सँहारी। दाहिन भुजा सब संत उबारी॥

* * * *

लंक विधंस कियो रघुराई। 'रामानंद' आरती गाई॥
सुर नर मुनि सब करहि आरती। जै जै जै हनुमान लला की॥"

हिन्दी-साहित्यकी रीढ़की बनावट यहींसे शुरू हुई—यहीं असली बुनियाद पड़ी। स्वामी रामानंदजीकी शिष्य-

परम्पराके संत-कवि हिन्दी-साहित्यको विश्व-साहित्यमें बिठाकर आप भी अमर हो गए और हिन्दीको भी अमरता प्रदान कर गए। इसका श्रेय आचार्य रामानन्दको है। भक्तिकी इस परंपरामें तीन धाराएँ थीं:—

(निर्गुण-गायक)

'कबीरदास' स्वामी रामानंदजीके प्रधान शिष्य थे। इनकी जीवनी और रचनासे ही हमारा यह 'संग्रह' शुरु होता है। इन महात्माकी रचनामें निर्गुण ब्रह्मकी उपासनापर ज्यादा जोर दिया गया है। 'प्रेम' ही साधनाका मूल तत्व माना गया है।

कबीरकी रचनाओंमें सत्यका नग्न स्वरूप है। '*सत्य बोलो, प्रियबोलो ; अप्रिय सत्य मत बोलो।*'—इस नीति-वाक्यके वह कायल न थे। सत्य-धर्मके विरुद्ध जो बातें उन्होंने देखीं, निःसंकोच होकर उसकी कड़ी आलोचना कर डाली। उनके इस 'अक्खड़पन' को कुछ लोग उनकी 'अहम्मन्यता' मानते हैं, और भीतर-ही-भीतर नाराज हो उठते हैं। उनके रहस्यवाद-को भी, गहराईमें न डूबनेवाले लोग 'मूढ़ जनतापर अपनी धाक जमानेका ढंग' कहते हैं। लेकिन यथार्थ ऐसा नहीं है। स्वामी रामानन्दजीसे दीक्षा लेकर भी वह उनके अन्ध भक्त नहीं हुए। जिस 'वैरागी-दल'का संगठन करके रामानन्दजी धार्मिक क्रान्ति करना चाहते थे, उसकी सिद्धि उस समय नजर नहीं आती थी। वह जमाना हिन्दू-मुसलमानोंके धार्मिक

संघर्षका था। विजेता अभिमानी होते ही हैं। उस जोशमें वे विजितोंके सभी कामोंकी अंधी आलोचना करने लगते हैं। उसी तरह इधर भी कट्टरताके पाशमें जकड़े हुए हिन्दू-धर्मके ठेकेदार (ब्राह्मण) मुसलमानको 'यवन' कहकर उसकी छायासे भी घृणा करते थे। अपने समस्त गौरवोंको चूर-चूर होते देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलती थीं। गीता-उपनिषद्के उपासकों (जो अणु-परमाणुमें भी एक ब्रह्मकी सत्ता देखते हैं) को 'यवन' मानव-कोटिसे परे कैसे दीखता था, उनके (मुसलमानोंके) भगवान 'अल्ला' से उनको नफरत क्यों थी (जब उनके यहाँ ही ईश्वरके असंख्य नाम हैं)? एक गाय काटता है, तो दूसरा बकरा! एक मन्दिरमें 'दंडवत' होता है, तो दूसरा मस्जिदमें घुटने टेकता है। एक एकादशी करता है, तो दूसरा रोजा रखता है। फिर भेद-भावका स्थान कहाँ—एक दूसरेपर बाघकी तरह झपटनेका मौका कहाँ? दोनों घरोंमें आग लगी देखकर 'कबीर' की आत्मा तिलमिला उठी, और ढोंग, अज्ञान, मिथ्याचरणके विरुद्ध उन्होंने 'जेहाद' बोल दिया। जो जान-बूझकर कुएँमें गिरता है, वह मीठी बातोंसे कब मानेगा? जब तक चोटी पकड़कर खींचा न जाएगा, वह ऊपर नहीं आएगा। यही कारण है कबीरके 'अक्खड़पन' का। वह समयका तकाजा था।

कबीरके पदोंमें कहीं-कहीं अस्पष्टता आ गई है। कबीर-दास ज्ञानी थे, साधक थे, योगी थे और थे भक्त। योगियोंके

चमत्कार किसीसे छिपे नहीं हैं। अब यदि दिव्य दृष्टिवाले कबीरको कुछ ऐसी बातें दीख पड़ती हैं जिनका मर्म हमारी मोटी समझमें नहीं आता है, तो दोषी कौन है—कबीर या हम? हाँ, साधना अवस्थाकी बातें कहकर उन्होंने अवश्य अंधोंके आगे कला-प्रदर्शिनी खोल दी है!

इनकी वाणी रुचिर रूपकों तथा अनूठी अन्योक्तियों द्वारा प्रेमकी ऐसी व्यंजना करती है कि सुननेवालेका हृदय तड़प उठता है, और चोट खाकर लोट-पोट हो जाता है। ब्रह्मको सर्व-व्यापक 'प्रियतम' मानकर कबीरने प्रेम-राज्यका जो रहस्य खोला है, वही आज-कलके रहस्यवादी कवियोंका आधार हो रहा है। इसीसे 'कवीन्द्र रवीन्द्र' भी उनको अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बीजक' है जो तीन भागोंमें बँटा है—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदान्त-तत्व, फटकार, अनित्यता, शुद्धि, माया, छूआछूत, नीति-उपदेश आदि भरे हैं। भाषा खिचड़ी है—खड़ीबोली, अवधी, पूरबी आदिका मेल है। व्याकरण और छंदोंकी कसौटीपर इनकी भाषा खरी नहीं उतरेगी, फिर भी प्रतिभाके प्रभावसे इनकी उक्तियोंमें अद्भुत चमत्कार आ गया है।

'धर्मदास' कबीरके श्रेष्ठ शिष्य और उनकी वाणियोंके संग्रह-कर्त्ता थे। वह स्वयं भी अच्छी रचना करते थे। 'गुरु-नानक' भी कबीरके ही पथका प्रचारक थे। पंजाबमें 'सिख'

धर्मकी स्थापना करके यह अमर हो गए। यह पंजाबी और हिन्दी—दोनोंमें कविता करते थे। इनकी रचनामें सरलताकी मात्रा अधिक है। कबीरदासकी तरह यह भी अपढ़ थे। भक्ति-भावसे उमड़कर भजन करते थे। वे भजन 'गुरुग्रन्थ साहब' में संग्रहीत हैं। एक उदाहरण लीजिए:—

"जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिंन, तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं, तिन्ह यह जुगति पिछानी।
'नानक' लीन भयो गोविंद सों, ज्यों पानी सँग पानी॥"

'दादूदयाल' भी कबीरके ही पथानुगामी थे। १६०१ में इनका जन्म गुजरातके अहमदाबादमें हुआ। राजस्थानमें 'दादूपंथी' का विशेष प्रचार है। कबीरकी तरह इन्होंने भी साखी-दोहे-भजन बनाए हैं। भाषामें पच्छिमी हिन्दी तथा राजस्थानीका मेल है। रचनामें प्रसाद गुण ज्यादा है। देखिए:—

"भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा, अबरन एक अधारा॥

बाद-बिवाद काहु सौं नाहीं, मैं हूँ जग थें न्यारा ।
सम दृष्टि सूँ भाई सहज में, आपहि आप बिचारा ।
में, तैं, मेरी यह मति नाहीं, निरबैरी निरबिकारा ॥

काम कलपना कदे न कीजे, पूरन ब्रह्म पियारा ।
एहि पथ पहूँचि पार गहि 'दादू', सो तव सहज सँभारा ॥"

'सुन्दरदास' १६५३ में जयपुर राज्यमें पैदा हुए । दादूदयालके समकालीन थे। वह खूब पढ़े-लिखे थे। इनका 'सुंदर-विलास' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। भक्ति और ज्ञान चर्चाके अतिरिक्त नीति तथा देशाचारपर भी इनके सुंदर पद हैं। भाषा भी शुद्ध ब्रजभाषा है। संत-वाणीकी विशेषता न रहकर इनकी रचनामें साहित्यिक खूबियोंका स्वागत ज्यादा हुआ है। लोक-धर्मके प्रति भी इनका झुकाव दिखता है। एक उदाहरण :—

"पति ही सूँ प्रेम होय, पति हूँ सो नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है ।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति हीं सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है ॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्य दान,
पति ही है तीर्थ न्हान पति ही को मत है ।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
'सुंदर' सकल बिधि एक पतिव्रत है ॥"

'मलूकदास' १६३१ में युक्त प्रान्तमें पैदा हुए। निर्गुन संतोंमें इनका बड़ा नाम है। इनकी गद्दियाँ जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नेपाल और काबुल तकमें कायम हुई। 'रत्नखान' और 'ज्ञान-बोध' इनकी प्रसिद्ध रचना है। भाषा सुन्दर और सुबोध है।

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
'दास मलूका' कहि गए, सबके दाता राम॥"

यह दोहा हिन्दी-संसारमें बहुत प्रसिद्ध है।

निर्गुण संतोंकी परम्पराका प्रसंग यहीं छोड़कर हम अब दूसरी ओर दृष्टि फेरते हैं।

(सूफी शाखा)

मुसलमानोंमें एक प्रेम-मार्गी सम्प्रदाय है जिसको 'सूफी' कहते हैं। इस सम्प्रदायमें हिन्दीके कई अच्छे कवि हुए हैं। प्रेम-कहानीके बहाने इनने ईश्वरीय प्रेमतत्वका वर्णन किया है जिसका आभास लौकिक प्रेममें पाया जाता है। इनके मतानुसार यह सारा संसार एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्रमें पिरोया हुआ है जिसके सहारे जीव उस प्रेमदेव (ब्रह्म) तक पहुँचनेका पथ पा सकता है। वे सभी रूपोंमें उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते रहते हैं। उनका कहना है, कि जब असली विरह पैदा होता है, तब यह

संसार निर्मल दर्पणकी तरह बन जाता है, और परमात्माकी झलक अनेक रूपोंमें दीख पड़ती है। इनके काव्यका यही प्रधान विषय है—मूल मंत्र है। मनुष्य-मात्रके हृदयमें जो एक प्रेमरागिनी बजती है, उसीको आधार मानकर, मुसलमान होते हुए भी, इन लोगोंने हिन्दुओंकी बोलीमें हिन्दुओंकी कहानियाँ, बड़ी दिलचस्पीसे, बड़ी मार्मिकतासे, बड़ी उदारतासे, कही हैं। इनमें 'कुतबन' की "मृगावती" (सं. १५५०,) 'मंझन' की "मधुमालती," 'मलिक मुहम्मद जायसी' (१५९७) की "पद्मावत," 'उसमान' की "चित्रावली" (सन १६१३ ई.,) 'शेख नबी' का "ज्ञान-दीप" (सं. १६७६,) 'कासिम शाह' (सं. १७८८) का "हंस जवाहिर," 'नूर महम्मद' (सं. १८०१) की "इन्द्रावती," 'फाजिलशाह' (सं. १९०५) का "प्रेम रतन" —आदि प्रसिद्ध है।

इन सबोंमें 'जायसी' का "पद्मावत" बहुत मशहूर हुआ। यह दोहे-चोपाइयोंमें है। जायसी देखनेमें बदसूरत थे, लेकिन उनका हृदय कैसा कोमल तथा प्रेमकी पीड़ासे भरा हुआ था, वह कहाँ तक पहुँच चुके थे, इसका पता 'पद्मावत'के पढ़नेसे होता है। 'पद्मिनी'के रूप-वर्णन का एक नमूना देखिए:—

सरवर-तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि-मुख, अंग मलय गिरि-बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँपासा॥

ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥"

अलंकारोंकी कैसी दिव्य योजना हुई है। प्रेम-गाथाकी परम्परामें 'पद्मावत' सबसे प्रौढ़, सरस तथा व्यंजनात्मक काव्य है। कबीरकी रचनाओंसे सूफियोंकी रचनाओंमें साहित्यिक सौन्दर्य अवश्य ज्यादा है, परन्तु हृदयको बेधनेवाले उन पैने तीरोंका इनमें अभाव है जिनकी कबीरकी वाणीमें अद्भुत प्रचुरता है। हाँ, सूफियोंके साहित्यमें खंडन-मंडन, झाड़-फटकार, खरी-खोटी उक्तियोंका अभाव है, वह शरत-कालकी नदीकी तरह शान्त और स्वच्छ है। यह भी समयका प्रभाव है। उस समय संघर्षके थपेड़े खा-खाकर दिमाग बहुत-कुछ ठंढा पड़ गया था, इसीसे हृदयके भाव कुछ स्पष्ट होने लगे थे। ठीक, साहित्य समयका प्रतिबिंब है।

(राम-भक्ति)

स्वामी रामानंदजीकी शिष्य-परंपराके द्वारा देशमें राम-भक्ति-का प्रचार हो रहा था अवश्य, कुछ रचनाएँ भी हो रही थीं, फिर भी हिन्दी-साहित्यमें उसका 'सूर्योदय' तुलसीकी वाणीसे ही हुआ। तुलसीकी सर्वतोमुखी प्रतिभाकी बदौलत ही 'हिन्दी-काव्य' प्रौढ़ युगमें प्रवेश कर सका। इनकी रचनाओंमें ही पहले-पहल हिन्दीकी शक्तिका पूर्ण प्रकाश फैला। पूर्वकी

जितनी परिपाटियाँ पाई गईं तुलसीदासने सभी शैलियोंप
सफलताके साथ रचना की। पहलेकी काव्य-भाषाका क्षेत्र भ
संकुचित था। भक्ति-कालमें इसको चलता रूप प्राप्त हुआ
कबीरकी बोली खिचड़ी थी। सूरदासने व्रजकी चलती भाष
अपनाई। जायसीने अवधीको पकड़ा। तुलसीदासके समय
'व्रज-भाषा' और 'अवधी' ही मुख्य काव्य-भाषा थी। इन्होंने
दोनों भाषाओंमें कुशलता दिखाई। उस समय कई शैलियाँ उनके
सामने थीं—छप्पय-पद्धति, गीत-पद्धति, कवितसवैया-पद्धति, चोपाई-
पद्धति दोहा-पद्धति। प्रतिभाके अद्भुत प्रभावसे इन्होंने सभ
शैलियोंमें कविताकी और जो कुछ लिखा उसको सुन्दरताकी सीमाप
पहुँचा दिया। इसी आश्चर्यमयी विशेषताके कारण तुलसीदास
हिन्दी-साहित्य-गगनमें देदीप्यमान सूर्यके समान चमक रहे हैं
भाषा और शैलीपर इतना बड़ा अधिकार किसका था? न सूरदास
अवधीमें लिख सकते थे, न जायसी व्रजभाषामें। न एक प्रबंध-
काव्य लिख सकता था, न दूसरा गीत-काव्य। लेकिन तुलसीने
सभी क्षेत्रोंमें कमाल कर दिखाया है।

मानव-जीवनकी भिन्न-भिन्न दशाओंका जितना अधिक चित्रण
इनकी रचनाओंमें पाया जाता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। इसी
कारण यह भारतीय जनताका प्रतिनिधि कवि हो रहे हैं। एक-
एक कोना देखकर रचना करनेवाले बहुत थे, पर सारे घरका हाल
किसने लिखा? तुलसीके साहित्यमें व्यक्तिगत साधनाकी बातें भी

भरी हुई हैं, पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्योंका सौन्दर्य भी है। परलोकके साथ लोक-धर्मकी परम उज्ज्वल प्रभा अन्यत्र कहाँ पाई जाती है? कर्म, ज्ञान और उपासनामें सामंजस्य किसने स्थापित किया? भक्ति-मार्गके भीतर भी समत्व-बुद्धि किसने दिखाई? किसके हृदयमें लोक-कल्याणकी इतनी बड़ी आँधी उठी थी? इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें केवल तुलसीदासका नाम अत्यन्त आदर, श्रद्धा, भक्ति तथा गर्वसे लिया जा सकता है।

उपास्य और उपासकके सूक्ष्म संबंधकी तुलसीदासने गूढ़ व्यंजना की है, फिर भी लोक-धर्मकी मर्यादासे वह तिल-भर भी इधर-उधर नहीं हो सके हैं। इसी कारण आज राजासे लेकर रंक तकके घरमें उनका 'रामचरित मानस' विराजमान होकर प्रत्येक आदमीके हृदयको तरंगित करता रहता है। राज-दरबारमें इसकी चर्चा होती है, जनसमूहमें व्यास-गादीपर बैठे रामायणी पंडित सस्वर गानकरके इसका अर्थ-परमार्थ करते पाए जाते हैं, देहातोंमें झाँझ-मृदंगपर इसका गान होता रहता है, मन्दिरोंमें इसके स्तोत्रोंका पाठ होता है, गाय-भैंस चराते हुए मूढ़ जन भी आनन्दसे इसकी दोहे-चौपाइयाँ गाते रहते हैं, साधु-संतोंमें चिंतन-मननकी यह मूल सामग्री है, पर्देके भीतर बैठी नारियाँ 'रामायण' पढ़कर आत्मामें बल पाती हैं, जीवनकी प्रत्येक गति-विधिमें तुलसीकी वाणी आज हिन्दी जनताकी संगिनी बनी हुई है। यह 'दिव्यवाणी' ही उत्तर भारतका यथार्थ 'जंगम विश्व विद्यालय' है। धार्मिक

भावोंपर जैसा घोर आघात उत्तर भारतमें हुआ, यदि तुलसीकी वाणी न होती, तो आज जो सरलता, श्रद्धालुता, भक्ति-प्रवणता, उदारता, धर्म-भीरुता—आदिका बचा-खुचा अंश वहाँ देखनेमें आता है, वह भी नहीं दीख पड़ता। संस्कृतका पठन-पाठन सिमिटकर कुछ केन्द्रोंमें सर्द साँस ले रहा था। अट-पट वाणियों तथा असंख्य पंथोंके कारण जनता पथभ्रष्ट हो रही थी। ऊपरसे विधर्मियोंकी नंगी तलवार सिरपर उठी रहती थी। ऐसी हालतमें तुलसीकी वाणी अंधोंके हाथोंकी लकड़ी बन गई। उसने आदर्श नर 'राम' को लाकर सबोंके सामने खड़ा कर दिया। लोगोंने आतुरतासे उसको उठाकर अपने हृदयमें बिठाया। बेटा हो तो रामके समान आज्ञाकारी, भाई हो तो रामके भाइयोंके समान एक दूसरेपर निछावर होनेवाले, स्त्री हो तो सीताके समान सती-सुलक्षणा, सेवक हो तो रामके सेवक हनुमानकी तरह जाँ-बाज।

रामने उन्हें प्रेम करना सिखाया—शबरीके जूठे बेर खाकर, वीरताका पाठ पढ़ाया—लंकेश रावणको मारकर, स्वराज्यका सुख दिया—'राम-राज्य' स्थापित कर। यह सब हुआ तुलसीकी दिव्य वाणीके द्वारा।

'राम-चरित-मानस' और 'विनय-पत्रिका'—यही दो ग्रन्थ तुलसी दासको अमर बनाए हुए हैं। एक का आदर सार्वभौम है, दूसरे का प्रचार पंडितों, गायकों और साधकोंमें

अधिक है। 'राम-चरित्र-मानस' प्रबन्ध-काव्यका विशाल रूप है, अतः इसमें प्रसाद गुणकी प्रधानता ज्यादा है। गूढ़ अंश भी हैं, लेकिन दालमें नमककी तरह—उनसे अर्थ-बोधतामें बाधा नहीं पहुँचती है, या पहुँचती भी है तो थोड़ी जिससे आनन्दकी उपलब्धिमें रुकावट नहीं होती। 'विनय-पत्रिका' साधना-भूमिकी सूक्ष्म चोज है और वह है भी छोटी। इसीसे उसमें दुरूहताकी अधिकता है। उसकी भाषा भी साधारणतः कुछ जटिल है। फिर भी कई अंश उसके इतने सरल, हृदय-बेधक तथा मनोविज्ञानके सूक्ष्म विश्लेषणांसे ऐसे ओत-प्रोत हैं कि नजर पड़ते ही हृदयमें उतर आते हैं।

साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता, गंभीरतामें तुलसी दास बेजोड़ हैं। अलंकारोंकी प्रचुरता होनेपर भी उनका अलग अस्तित्व कहीं नहीं है—वे भावों तथा तथ्योंकी मर्म-व्यंजनाके लिए ही आए हैं। भावोंके अनुरूप भाषा नाचती है, फिर भी उनका रूप निखरा ही हुआ है। पद-पूर्त्तिके लिए शब्दोंका कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है—एक भी शब्द इधर-उधर हटाया नहीं जा सकता है। शब्दोंका ऐसा उचित उपयोग कहीं और देखनेमें नहीं आता। अन्त्यानुप्रासकी भरमार है, पर तुकके मिलानेमें भावोंकी हत्या कहीं नहीं हुई है—जैसे सरस्वती जिह्वापर बैठी बोलती गई हों। प्रेम और शृंगारका भी-वर्णन है, पर अश्लीलता कहीं फटकने भी नहीं पाई है।

तुलसीदासने हिन्दीको प्रान्त और देशसे उठाकर विश्व-साहित्यके समकक्ष बिठा दिया। तुलसीके कारण हिन्दी अमर हो गई।

राम-भक्ति-परम्परामें दो और नाम विशेष उल्लेखनीय हैं— 'नाभादास' और 'हृदयराम'। नाभादासजीने सं. १६४२ के लगभग 'भक्तमाल' नामक ग्रन्थमें २०० भक्तोंको चमत्कारिक चरितावली ३१६ छप्पय-छंदोंमें लिखी है। जीवनका पूर्ण वृत्तान्त इनमें नहीं दिया गया है, केवल महिमामयी बातोंकी ही सूचना है। इसका प्रचार और आदर जनतामें खूब है कहते हैं, नाभादासजी डोम (हरिजन) थे।—'हृदयराम'जीने कवित्त और सवैयोंमें 'हनुमन्नाटक' लिखा जिसकी भाषा सुन्दर और सुथरी है।

राम - भक्ति - परम्पराको यहीं छोड़कर अब कृष्ण - भक्तिकी ओर चलें।

(कृष्ण - भक्ति)

१५ वीं और १६ वीं शताब्दीमें वैष्णव धर्मका आन्दोलन सारे भारतमें लहरा उठा था जिसके प्रधान प्रवर्त्तकोंमें आचार्य श्रीवल्लभजीका नाम अत्यन्त आदरके साथ लिया जाता है। वल्लभजी दाक्षिणात्य थे। बंगालके चैतन्य महाप्रभु भी आचार्य वल्लभके सहपाठी ही थे। जिस प्रकार बंगाल 'चैतन्य' की

...

चेतनासे कृष्ण-मय हो उठा, उसी प्रकार वल्लभकी कृपासे युक्त-प्रान्त। यह वेद-शास्त्रके पारगामी विद्वान थे। वेदान्तपर भाष्य रचकर, श्रीरामानुजके विशिष्टाद्वैतका खंडन कर, इन्होंने 'शुद्धाद्वैत' पक्षका निरूपण किया। भक्ति-पक्षमें उनका मत 'पुष्टि-मार्ग' के नामसे प्रसिद्ध है। उपासनाके आधार देव 'श्रीकृष्ण' हैं। स्वामी रामानन्दजीकी तरह आचार्य वल्लभने भी सारे भारतमें भ्रमण करके शास्त्रार्थ द्वारा अपने मतका प्रचार किया। अंतमें उपास्यदेवकी लीला-भूमि वृन्दावनमें आकर अपनी गद्दी स्थापित की।

दाक्षिणात्य होते हुए भी आचार्य वल्लभने कृष्ण-क्रीडा-भूमिकी प्रचलित बोली 'व्रजभाषा' में 'वन-यात्रा' नामक एक पुस्तक लिखी। उनके इस प्रेमका ऐसा प्रभाव हुआ कि देखते-देखते 'व्रजभाषा' का साहित्य चमक उठा। उनके शिष्य-सम्प्रदायने इस भाषाकी जैसी सेवा की, कोई समता नहीं। 'सूरदास' इन्हीं आचार्यके प्रधान शिष्य थे। बंगालमें 'गीत-गोविन्द,' मिथिलामें 'विद्यापति-पदावली,' और युक्तप्रान्तमें-'सूर-सागर' कृष्ण-कीर्त्तनके अनमोल ग्रन्थ हैं जिनकी अगाध धारामें स्नान कर आज शताब्दियोंसे भक्तोंका हृदय शीतल हो रहा है।

सूरदासजीकी जीवनी और कुछ पद्य 'संग्रह' में दिए गए हैं। उतनेसे ही सूरदासके साहित्यका सम्यक् परिचय नहीं होता।

उसके लिए उसके 'सागर' में डुबकी लगानेकी जरूरत है। भगवान्‌की अनुरक्तिकी पुष्टिके लिए सूरदासने शृंगारकी लोकोत्तर शोभाको अपनाया और उसमें आत्मोत्सर्गकी मर्म-व्यंजनासे रस-सागरको उमड़ा दिया। रस और प्रेमकी उस बाढ़में लोकधर्म बह गया। कुल-कामिनियाँ कुल-गली छोड़कर यमुना-तटपर आ खड़ी हुईं और कृष्णके साथ रास-लीलामें लीन हो रहीं। उन्हें अपने घर-द्वार, कुल-मान, पति-पुत्र—किसीकी भी सुधि नहीं रही! कृष्ण परब्रह्म थे—परमात्मा थे, गोपियाँ जीवात्माएँ थीं—पहला पुरातन प्रेमी था, दूसरी सनातन सुन्दरी—भक्ति-लोकके इस रहस्य मर्मको तो थोड़े ही लोग समझते हैं, और जो पहुँचे हुए हैं, उनके लिए कृष्ण-लीला यथार्थ ही सात्विक आनन्दकी आलंबन-उद्दीपन-वस्तु होगी। तभी तो 'चैतन्य' ऐसे दिव्य पुरुष 'गीत-गोविन्द' और 'विद्यापति' के पदोंपर पागल रहते थे।

सूरदासने कृष्णकी बाल-लीला और यौवन-लीलापर वात्सल्य तथा शृंगारके वर्णनमें अपनी रस-मग्नताका ऐसा चित्र खींचा है, कि निस्तब्ध रह जाना पड़ता है। बाल-सुलभ चेष्टाओंका ऐसा भांडार और कहाँ पाया जाता है? संयोग और वियोग शृंगारके दोनों पक्षोंका ऐसा मार्मिक चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है।

'सूरसागर' में सबसे मर्म-स्पर्शी स्थल है 'भ्रमरगीत'। कृष्ण मथुरा जा बसते हैं। उनके सखा 'उद्धव' आते हैं

उपदेश देने वृन्दावन। सभा जुड़ जाती है उत्सुक ब्रज-नारियोंकी। उद्धव ज्ञान-योगकी बातें कहकर प्रेमकी निन्दा करने लगते हैं। प्रेमकी पावन मूर्त्तियोंका कलेजा कसक उठता है। वे कुछ कहनेको व्यग्र हो उठती हैं। उसी समय वहाँ एक भ्रमर एक फूलपर आ बैठता है। बस, यहींसे उपालंभ-काव्यका आरंभ हो जाता है जिसका दर्शन विश्व-साहित्यमें भी दुर्लभ है। गोपियोंके विदग्ध वचनोंकी वक्रता, उनकी दीनता, विवशता, सगुणोपासनाकी उनकी मार्मिक तर्कोक्ति, तथा उनके प्रगाढ़ प्रेमकी उसमें ऐसी अभिव्यंजना हुई है, कि मुग्ध रह जाना पड़ता है। भाषा ऐसी सरल, भाव इतने अनूठे, वर्णन-शैली इतनी ग्राह्य, अलंकारोंकी ऐसी मधुर योजना है, कि सहसा हृदयकी सारी रागिनी बज उठती है, और चिरन्तन वेदनाकी अति मधुर तान निराली गतिसे गूँजकर आदमीको एक नई दुनियामें उठा ले जाती है—जहाँ प्रेम और सौन्दर्यका-सागर उमड़ा हुआ है और कृष्णका पूर्णचन्द्र उसमें अनन्त तरगें उठा रहा है। 'सूर' की यह दुनिया ऐसी निराली है जो अपना सानी नहीं रखती।

'सूर-सागर' कृष्ण-चरित संबंधी रचना है सही, लेकिन रामायणकी तरह वह सर्ग-बंध प्रबंध काव्य नहीं—गीति-काव्य है। सच्चे रस-मग्न कविने भाव-तरंगोंमें उछल-उछल कर लीला-गीत गाए हैं। उसके गीतोंके विषय थोड़े हैं—माखन-रोटीसे मुरली मनोहर तक।

लेकिन इसी परिमित पुण्य-भूमिमें उसकी भाव-दृष्टि इतनी दिव्य और दिगन्त-विस्तृत हो उठी है, कि ओर-छोर नहीं पाया जाता है। कवि कृष्णके माधुर्यमें ही मुग्ध दीख पड़ता है—शैशव और यौवनके वात्सल्य एवं शृंगार ही उसे लुभा सके हैं। कृष्णने, बादको, मुरली फेंककर 'पांचजन्य' भी फूँका था, महाभारतकी बागडोर भी थामी थी, गीताका उपदेश देकर सियारको सिंह भी बनाया था—किन्तु चर्म-चक्षु-शून्य कवि हृदयके मधुर भावोंकी ही उधेड़-बुनमें बावला बना दीखता है। लेकिन जिन भावोंपर वह सौ जानसे फिदा है, उनपर उसने लेखनी तोड़ दी है—दूसरे कवियोंके लिए कुछ भी नहीं छोड़ा है। बादके कवियोंकी उक्ति सूरकी जूठी जँचती है। एक बार सूर-सागरमें गोता लगा चुकनेपर, उन्हीं भावोंपर, दूसरोंकी उक्तियाँ पढ़नेका जी नहीं चाहता है—फीकी मालूम होती हैं। वास्तवमें 'सूर-सागर' को 'रस-सागर' कहा जाए, तो कोई अतिशयोक्ति न हो। किसी सच्चे सहृदयने (जिसको क्रम-भंग होनेकी परवा न थी) हिन्दी-कविताकी कैसी सच्ची समालोचना कर डाली है एक दोहेमें :—

> *" तत्व तत्व 'सूरा' कही, 'तुलसी' कही अनूठी।*
> *बची-खुची सब 'कबिरा' कही, और कही सब जूठी॥ "*

कृष्ण-भक्ति-शाखामें 'नंददास', 'हितहरिवंश' 'गदाधर भट्ट', 'मीराबाई', 'स्वामी हरिदास', 'सूरदास मदन मोहन',

'रसखान', 'ध्रुवदास'—आदिकी रचनाएँ अत्यन्त रुचिर तथा आदरणीय हैं। 'मीराबाई' का वृत्तान्त तो इतिहास-प्रसिद्ध है ही। चित्तौड़की रानी होकर भी उसने कृष्ण-भक्तिकी मादकतामें लोक-लाज तज दी और साधु-संगमें जा बैठी। कुल-मर्यादाभिमानी राजाने उसको समझाने-बुझानेके कितने ही उपाय किए, लेकिन वह अपने पथपर अटल रही। आखिर वह राज-महल छोड़कर वृन्दावन चली आई, और फिर द्वारका जा बसी। उसकी भक्तिकी अनन्यता, भावावेश, प्रेम-परिपाक, लगन, धुन, त्याग, साहस, कष्ट-सहिष्णुता—आदि देखकर तो परमाराध्या 'राधा' भी अप्रतिभ दीखती हैं।

मीराबाई तुलसीदासके समकालीन थीं। घरवालोंसे तंग आकर इन्होंने तुलसीदासके पास अपनी कष्ट-कथा लिखकर सलाह माँगी। तब—

"जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम, यद्यपि परम सनेही॥"—

तुलसीदासजीका यह प्रसिद्ध पद मीराके जवाबमें भेजा गया, और मीरा घरसे निकल पड़ीं। उनके कुछ पद राजस्थानी भाषामें हैं, और कुछ विशुद्ध व्रजभाषामें। एक प्रख्यात पद सुनिए:—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरा न कोई॥
जाके सिर मोर-मुकुट, मेरो पति सोई।
शंख चक्र गदा पद्म, कंठ माल होई॥

तात मात सुत न भ्रात, आपनो न कोई ।
छाँड़ि दई कुलकी कानि, क्या करेगा कोई ॥

संतन संग बैठि-बैठि, लोक-लाज खोई ।
अब तो बात फैल गई, जानै सब कोई ॥

अँसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम-बेलि बोई ।
'मीरा' प्रभु-लगन लगी, होनी होय सो होई ॥"

मीराबाई भक्तोंमें अग्रगण्य थीं। इनके चरित्र और गीतोंका उत्तर भारतमें अत्यधिक प्रभाव पड़ा—खासकर स्त्री-संसारमें। इनके पद बड़ी भक्ति तथा प्रेमसे गाए जाते हैं। उनमें अनन्यता उमड़ी पड़ती है।

इस कालके फुटकल कवियोंमें 'रसखान', 'रहीम', और 'केशव' का परिचय 'संग्रह' में आ गया है। इनमें पहलेके दो तो यथार्थ प्रेमी-जीव थे—कृष्ण-प्रेममें मत्त रहते थे। केशव कविताके उद्भट आचार्य थे,—परंतु हृदयसे उनका कम संबंध था। इस काल-क्रमके प्रसंगमें 'गंग' और 'सेनापति' की भी थोड़ी चर्चा आवश्यक है। 'गंग' अकबरके दरबारमें थे, और थे 'रहीम' के अत्यन्त प्रिय-पात्र। कहते हैं, कि किसी कारण किसी राजाने इनको हाथीसे चिरवा दिया। इनकी रचनाके संबंधमें एक पद प्रसिद्ध है:—

"उत्तम पद कवि गंगके, कविताको बलबीर।
केशव अर्थ गँभीरको, सूर तीन गुन धीर ॥"

अपने समयके यह धुरंधर कवि थे। कोई पुस्तक तो नहीं, पर पुराने संग्रह-ग्रन्थोंमें इनकी रचनाएँ मिलती हैं। कवित्त-छंद इनका प्यारा था। सरसता और विदग्धताके साथ शृंगार तथा वीर-रसपर इनकी मार्मिक उक्तियाँ हैं। हास्यका पुट भी अनुपम हुआ है। घोर अतिशयोक्तिके कथनमें तो यह बाजी ही ले गए हैं। रहीमकी स्तुतिमें एक नमूना आ गया है। हास्य-रसका एक निर्भीक पद देखिए :—

"तिमिरलंग लई मोल, चली बब्बरके हलके।
रही हुमायूँ साथ, गई अकबरके दलके ॥
जहाँगीर जस लियो, पीठिको भार छुडायो।
शाहजहाँ करि न्याय, ताहिको माँड चटायो ॥
बल रहित भई पौरुष थक्यो, भगी फिरत वन स्यार-डर।
औरंगजेब करिनी सोई, लै दीन्हीं कवि गंग-घर ॥"

कहते हैं, यह हथिनी उनको इनाममें मिली थी। इसीपर उन्होंने यह मजाक उड़ाया।

'सेनापति' १६४६ के आस-पास थे। ऋतु-वर्णनमें यह अपना सानी नहीं रखते हैं। पद-लालित्य और यमक-योजन

दर्शनीय है। यह बड़े आत्माभिमानी कवि थे। गर्मीकी गुरुता का वर्णन देखिए :—

" वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल बिकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है॥

सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
घमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठी कहूँ घामै बितवत है॥ "

इस कालमें अगणित भक्त-कवि हुए हैं। स्थल-संकोचसे हम उनपर सरसरी नजर भी नहीं डाल सकते। अतः अब रीति-कालकी झाँकी लेने चलते हैं।

रीति काल

(१७०० से १९००)

जिस प्रकार भाषाके बाद व्याकरण-ग्रन्थोंकी रचना होती है, उसी प्रकार काव्यके पश्चात् काव्यांगोंके विवेचनमें रीति-ग्रन्थोंकी रचना होती है। रस, अलंकार, ध्वनि, छंद, नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन—आदि ही रीति-ग्रन्थोंके प्रधान वर्ण्य विषय होते हैं। भक्ति-कालमें हिन्दी-काव्य अपने चरम उत्कर्षपर पहुँच चुका था। अतः अब उसकी रीतिका विवेचन भी आवश्यक था। सोलहवीं सदीके समाप्त होते-होते ‘ कृपाराम ’ ने रस-निरूपणका श्रीगणेश कर दिया। १६१५ में ‘ गोप ’ ने अलंकारोंकी ओर ध्यान दिया। मोहनलाल मिश्र और करनेश शृंगार और अलंकारको लेकर कुछ और आगे बढे। इसके बाद सुप्रसिद्ध केशवदासने ‘ रसिक-प्रिया ’ और ‘ कवि-प्रिया ’ रचकर आचार्य-पद प्राप्त किया। लेकिन उनके आदर्शका अनुकरण नहीं हुआ। पंडित-प्रवर केशव संस्कृतके आचार्य ‘ दंडी ’ और ‘ रुय्यक ’ के पथानुगामी थे, लेकिन बादके आचार्योंने ‘ चन्द्रालोक ’ और ‘ कुवलयानन्द ’ को अपना आदर्श माना। केशव अपने क्षेत्रमें अकेले रह गए।

१७०० के लगभग भूषण कविके भाई चिंतामणि ने ‘ काव्य-विवेक ’, ‘ कवि-कुल-कल्प-तरु ’, और ‘ काव्य-प्रकाश ’

रचकर रीति-ग्रन्थोंकी प्रणाली प्रचलित कर दी। यहींसे रीति-ग्रन्थोंमें बाढ़-सी आने लगी। कवि होकर जो रीति-ग्रन्थ नहीं रचता था, वह मानो कुंठित रह जाता था। 'आचार्य' बननेकी होड़में कवि और आचार्यका भेद मिट-सा गया। यह परिपाटी ऐसी जबरदस्त हुई, इसका आदर्श इतना आकर्षक हुआ, कि कविताकी स्वतंत्र धारा रुक-सी गई—मानो कविका प्रधान कर्म रह गया केवल रीति-ग्रन्थ रचना ही। रचना-प्रणाली भी स्थिर-सी हो गई—पहले दोहोंमें रस या अलंकारोंकी परिभाषा लिखी गई और फिर कवित्त-सवैयोंमें उनके उदाहरण दिए गए।

इस कालकी दर्शनीय वस्तु है 'नायिका-भेद'। 'नायिका' शृंगार-रसका 'आलम्बन' है। इस आलम्बनके अंग-प्रत्यंगोंका वर्णन ही स्वतंत्र विषय बना लिया गया और अनेक अनुपम रचनाएँ हुईं। 'उद्दीपन' विभावको भी उसी तरह अपनाया गया और 'षट्ऋतु-वर्णन' में स्वतंत्र पुस्तकें रच डाली गईं। इस होड़से एक बड़ा लाभ हुआ—रस और अलंकारोंके अपरिमित उत्तम उदाहरण हिन्दी साहित्यमें एकत्र हो रहे जिनकी तुलना संस्कृतमें भी कठिनतासे ही हो सकती है। हानि भी कम नहीं हुई—आचार्य और कविमें भेद मिट जानेसे न काव्यांगोंका ही पूर्ण विवेचन हो सका, न कविता ही स्वतंत्र प्रवाहमें बह सकी। दृश्य काव्य (नाटक) की ओर दृष्टि ही नहीं गई। गद्यका विकास नहीं हो सका। व्याकरणपर ध्यान नहीं

दिया गया। सबसे बड़ी क्षति हुई, कि बँधी-बँधाई नहरोंमें बहनेके कारण कविताका क्षेत्र संकुचित हो गया। अनुभवकी बहुत-सी बातें अछूती छूट गईं—रस-स्रावमें नहीं पड़ सकीं और कवि अपनी आत्मानुभूतिको व्यंजनाके पंखोंपर उड़ा नहीं सका—न वह अच्छी तरह संसारको देख सका, न अच्छी तरह अपने हृदय-दोलपर ही झूल सका। उसकी दृष्टि एक कोनेपर ही लगी रही—केवल रीति-प्रणालीपर।

इस कालकी भाषा भी अधिकतर अव्यवस्थित हो गई। अवधी-और व्रजभाषाकी खिचड़ी पकने लगी। भावोंमें भी अश्लीलताका आधिक्य आने लगा। इन अश्लील-भावोंको प्रोत्साहन मिला कवियोंके आश्रय-दाता राजा-महाराजा तथा अमीर-उमरावोंसे। क्योंकि पराधीन होकर वे अकर्मण्य और विलासी हो रहे थे। शृंगारके सिवा उनके जीवनमें और कोई विशेषता रह नहीं गई थी। उनके मुखापेक्षी होनेके कारण कवि-गण भी लाचार-से थे। 'जयदेव' के समयसे ही ऐसी अश्लीलता आने लगी। 'विद्यापति' और 'सूरदास' भी इस छींटेसे बच न सके। फिर विलास-प्रधान मुगल-शासन-कालके कवियोंकी बात कौन कहे! एक तुलसीदास बेदाग बचे, लेकिन उनके नायक थे 'सीताराम'—'राधा-कृष्ण' नहीं। रीति-ग्रन्थोंके कवियोंने तो अश्लीलताको, कहीं-कहीं, हदपर पहुँचा दिया है।

रीति-कालके परम प्रसिद्ध कवियोंमें चिंतामणि, जसवंतसिंह (मारवाड़के महाराज), बिहारीलाल (सतसईवाले), मतिराम, भूषण, देव, श्रीपति, दास, तोषनिधि, रसलीन, रघुनाथ, दूलह, बेनी, पद्माकर, ग्वाल, प्रतापसिंह—आदि विशेष विश्रुत हैं। इनमें भी बिहारी और भूषणकी कीर्ति अनुपम है।

बिहारीने केवल सात सौ दोहे बनाए। इतनेसे ही यह महाकवि ही नहीं—अमर कवि हो गए। साहित्यिकोंमें जितना बिहारी लोक-प्रिय हुए, वैसा भाग्य शायद ही किसीका हुआ होगा। अभी तक इस छोटी-सी किताबको पचासों टीकाएँ निकल गई हैं और निकलती चली जा रही हैं। इसका अनुवाद संस्कृत और फारसीमें भी हुआ।

दोहे मुक्तक-काव्य कहलाते हैं। इनमें प्रबंध काव्यकी प्रवाह-प्रबलता नहीं होती है। प्रबंध काव्यको आप एक जंगल कहें, तो मुक्तकको एक सजी क्यारी। एक छोटे-से वस्तु-दृश्य-को रच-सवाँर कर कवि ऐसा मर्म-व्यंजक बना देता है, कि थोड़ी देरके लिए वह दृश्य श्रोता और पाठकको बेसुध बना देता है थोडे-से शब्दोंमें ऐसे प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करना कविका कठिनतर कर्म है। कल्पनाकी समाहार-शक्ति और भाषाकी समास-शक्तिसे ही '*गागरमें सागर*' भरा जा सकता है। बिहारी-में वह अपूर्व क्षमता थी जिसके कारण उनके दोहे:—

"सतसैया के दोहरे अरु नावक के तीर ।

देखत में छोटे लगै वेधै सकल सरीर ॥"—के नामसे अमर हो रहे हैं ।

बिहारी मन-मौजी कवि थे । कविता उनके खेलवाड़की चीज थी । जीवन, नीति और सिद्धान्तसे उसका कम संबंध था । वह उनके हृदयकी पीड़ा नहीं थी । सच्चे रसिक-की तरह रस-वर्षा करना ही उनका काम था । राज-दरबारी होने-पर भी चापलूसीके काममें बिहारीने अपनी वाणीका व्यर्थ प्रयोग नहीं किया । '*कलाके लिए ही कला*'—मानो वह इसीके उपासक थे । अनुभाव और हावपर बिहारीकी रस-व्यंजना अपना सानी नहीं रखती है । अलंकारोंकी योजनामें कौशलकी कान्ति है, किसी-किसी पदमें बड़ी बारीकीसे कई अलंकार पिरोए गए हैं । शृंगार-रसके संचारी भावोंकी अभि-व्यंजना हृदय-तलको छूनेवाली है । व्यंग्यकी व्यंजना भी कहीं-कहीं मार्केकी हुई है । कहीं-कहीं नीति-संबंधी सूक्तियाँ भी आई हैं । लेकिन वे भी मनकी मौज ही दिखाती हैं । कई जगह पूर्व-वर्त्ती कवियोंके भावोंका भी अपहरण किया है, लेकिन प्रतिभाकी भट्टीमें गलाकर उनको मूलसे भी सुन्दर बना लिया है । यही तो बिहारीकी बड़ी तारीफ है । महाभारतकी कथाके आधारपर 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' रचनेवाले 'कालिदास' की कला भी तो ऐसी ही मौलिक थी । यद्यपि बिहारीने रीति-ग्रन्थ-

के संकल्पसे रचना नहीं की थी, फिर भी वर्णित विषयके क्रम-विभाग-से उनकी रचना उसी श्रेणीमें आ जाती है। इनकी रचनामें अश्लीलता भी अपना एक खास स्थान रखती है। भाषा मुहावरेदार शुद्ध व्रजभाषा है। शब्दोंका रूप बिगाड़ा नहीं गया है।

बिहारीके मनकी मौजके साथ भाषा और भावका अपूर्व सहयोग देखकर आह्लादके साथ थोड़ा विषाद भी हो आता है। सूर और तुलसीकी तरह बिहारी भी भाव और भाषाके सम्राट थे, लेकिन थे स्वेच्छाचारी। उनकी आज्ञासे, अनुचर स्वरूप, भाव और भाषाको अश्लील-से-अश्लील शृंगार-रस तथा सुन्दर-से सुन्दर शान्त-रसका सर्वोत्कृष्ट चित्रण, समभावसे, करना पड़ा है—ठीक लुहारकी उस अभागी कूचीकी तरह जो आग और पानीमें अकुंठित भावसे बराबर चलती रहती है—ठीक उस सुन्दर सुवर्ण-पात्रकी तरह जिसमें सुधा और सुरा एकरस भरी जा सकती है। दोहे रचनेवाले हिन्दीमें कितने कवि न हुए, परन्तु बिहारीके दोहे उन उडुगणोंमें पूर्ण चन्द्रकी तरह राज रहे हैं। यहाँतक कि तुलसी, रहीम और रसखानके दोहे भी बिहारीके 'दोहरे' की समतामें नहीं आ सके। काश, बिहारी शृंगारपर अधिक न लिखकर अन्य रसोंपर ही अधिक लिख जाते!

'भूषण' रीति-कालके प्रवाहमें होते हुए भी रसके चुनावमें वह समयकी गतिके बिल्कुल उलटा बहे। वह शृंगार-

प्रधान युग था, लेकिन 'भूषण' ने अपने लिए चुना वीर-रस। अपने-अपने आश्रय-दाता राजा-महाराजोंकी तारीफमें और भी अनेक कवियोंने वीर-रसकी रचनाएँ की होंगी, लेकिन कागजकी नावकी तरह वे रचनाएँ समयके स्रोतमें सदाके लिए नष्ट हो गई। जनतामें तो क्या साहित्यिकोंमें भी अब उनकी पूछ नहीं है। हवाई महल कब तक ठहरेगा? वीर-रसका आलम्बन विभाव भी यदि वास्तविक वीर हो, तभी तो उसपर की गई रचनाओंमें जीवन्त चेतना पाई जाए। 'भूषण' भाग्यशाली थे। शिवाजी और छत्रसाल ऐसे नर-शार्दूलको उन्होंने अपनी वाणीका आधार बनाया। ये वीर-पुंगव देश, जाति, धर्म और जनताके अभिमान-की मूर्त्ति थे। महा शक्ति-शाली मुगल बादशाहका मान-मर्दन और उनकी अपार सैन्य-शक्तिका गंजन कर उन जाँ-बाज वीरोंने एकबार मृतप्राय हिन्दू-जातिमें नव जीवनका संचार कर दिया। वे सारी जातिकी श्रद्धा, गर्व तथा हर्षकी सामग्री बन गए। एकबार आहत अभिमानसे नत-मस्तक हिन्दू-जातिका सिर गर्व-से ऊँचा हो उठा—एक बार शिवाजी महाराज तथा बुंदेलावीर महाराज छत्रसालके जय-घोषसे आसेतु हिमाचल गूँज उठा। ऐसे श्रद्धेय शूर-वीरोंके कीर्त्ति-विस्तारमें जिस कविने अपनी वाणी-का उपयोग किया वह जनताका हृदय-हार क्यों नहीं होता, उसकी कविता जनताकी जबानपर अमर होकर क्यों न इठलाती? उसका साहित्य सारे देशके सम्मानका भाजन क्यों न होता?

'भूषण' केवल वीर-रसके कवि ही नहीं थे। उनमें वीरता भी पर्याप्त थी। वे केवल ओजस्विनी कविता ही नहीं करते थे, युद्ध-क्षेत्रमें जाकर लोहेके चने भी चबाते थे। शिवाजीके साथ रण-भूमिमें उनकी वीर-वाणी कड़खेके गीत सुना 'बैंड-बाजा' की तरह सेना-समूहमें मादकता भर देती थी। घरके एक अँधेरे कोनेमें बैठ कर मच्छड़ मारते वे कविता नहीं करते थे। ऐसे वास्तविक वीर-कविकी कविता पाकर एक ओर शिवाजी अमर हो गए, दूसरी ओर 'भूषण' को गोदमें बिठाकर 'हिन्दी' कृतार्थ हो गई—जिसकी हुंकारसे एक "महाराष्ट्र" को स्थापना हो गई। उस समय भी हिन्दी "राष्ट्र-भाषा" थी।

'भूषण' की भाषामें ओज है—उमड़ती मात्रामें, लेकिन कहीं-कहीं शब्दोंके रूप बहुत बिगड़े हुए हैं। उनका प्रधान ग्रन्थ "शिवराज-भूषण" अलंकारोंका रीति-ग्रन्थ है। "शिवा-बावनी" उनकी अत्यन्त लोक-प्रिय रचना है।

"पद्माकर" का नाम हिन्दी-संसारमें बहुत प्रसिद्ध है। बिहारी और भूषणके बाद रीति-कालमें इन्हींका श्रेष्ठ स्थान है। यह तैलंग ब्राह्मण थे और ८० वर्षकी उम्रमें १८९० में इनका देहान्त हुआ। १८५६ में सितारेके महाराज रघुनाथराव (राघोबा) ने इन्हें एक लाख रुपया और हाथी इनाममें दिया। जयपुरमें भी यह बहुत दिनतक रहे और अपना 'जगद्विनोद' ग्रन्थ

यहीं बनाया। उदयपुरमें भी इनका अच्छा सम्मान था। सिंधिया और ग्वालियरके महाराज भी इन्हें बहुत मानते थे। अन्तिम समय यह रोग-ग्रस्त हुए और भक्ति-रस-पूर्ण "प्रबोध-पचासा" ग्रन्थ बनाया। मरनेके पहले गंगा-तटपर जाकर "गंगा-लहरी" बनाई।

"पद्माकर" की कल्पना मधुर, सहज, हाव-भाव-पूर्ण तथा सजीव मूर्त्तिमती होती है। कल्पनाके साथ भावुकता-भरी भाषा ही श्रेष्ठ कविता रच सकती है। शृंगार, वीर, करुण तथा शान्त रसोंके अनुरूप इनकी भाषा भी अनेक रूपोंमें पाठकोंके सामने आती है। भाषापर ऐसा अधिकार केवल तुलसीदासजीका है। प्रेम-प्रसंगमें "पद्माकर" की वाणी अत्यन्त कोमल, मधुर, स्निग्ध तथा भाव-विभोर हो गई है, जो हृदय-स्पर्शी चित्रपटको नयनाभिराम रूपमें खड़ा कर देती है। शान्त-रसके वर्णनमें कविकी वाणी अमल धवल मान-सरोवरकी तरह शान्त, सुस्थिर, निर्मल, गंभीर रूपमें पाठकोंके व्यथित, श्रान्त-क्लान्त जीवनको अपेक्षित आराम देती दीख पड़ती है। वैसे ही करुणाके चित्रणमें हृदयको द्रवित करके रसकी तरंगिनी उमड़ा देती है। उसी प्रकार वीरोत्कर्षके वर्णनमें प्रबल झंझानिलकी तरह उसका वाग्वैभव हाहाकार-रवसे आकाश पाताल एक करता दीख पड़ता है। भाषाकी यह अद्भुत विभूति "पद्माकर" को महाकविके पदपर बिठा देती है। अनुप्रासकी झंकार अपनी खास विशेषता रखती है। शब्दोंकी

प्रधान शक्ति लक्षणा और व्यंजनाका अधिकतासे उपयोग करके "पद्माकर" यथार्थ ही हिन्दी-संसारमें अपनी अमर स्मृति छोड़ गए हैं।

अनुप्रासकी वसन्त-बहार देखिए :—

" कूलन में केलिन में कछारन में कुंजन में
क्यारिन में कलिन में कलीन किलकंत है।
कहै "पदमाकर" परागन में पानहूँ में
पानन में पीक में पलाशन पगंत है॥
द्वार में दिशान में दुनी में देश देशन में
देखो दीप दीपन में दीपत दिगंत है।
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में वेलिन में
बनन में बागन में बगरो बसंत है॥"

वीर-रसकी बानगी :—

" तीखे तेगवाही जे सिलाही चढ़ै घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै "पदमाकर" निसान चढ़ैं हाथिन पै,
धूरि-धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जितिवे के हेतु,
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥"

रीति-कालकी काव्य-रचनाका संबंध जनतासे छूटकर फिर राज-दरबारोंसे हो गया। अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेबने भी हिन्दी-कविताका सम्मान किया। अकबर तो हिन्दीमें रचना भी करते थे। राज-सम्मान पाकर हिन्दी फूल तो उठी सही, पर जनताके हृदयका दर्पण नहीं रह सकी। अलंकारोंसे लदी, श्रृंगारमें पगी, राज-सभाओंकी जगमग ज्योतिमें जगी, राजा और राज-कुमारोंसे आँखें लड़ाकर वाहवाही पानेवाली हिन्दी-कविता अब गँवार जनताकी ओर नजर कैसे फेरती!

(कुछ अन्य कवि)

इस कालमें अनेक ऐसे भी कवि हुए हैं जिन्होंने क्रम-बद्ध रीति-ग्रन्थोंकी रचना न कर या तो प्रबंध-काव्य लिखा, या नीति-भक्ति-ज्ञान-समन्वित सूक्तियाँ कहीं, या शृंगार-रसपर मनमानी पद-रचना की। इन बन्धन-विहीन कवियोंकी रचनाएँ अधिकतर हृदय-ग्राहिणी हुई हैं। इनमें रसखान, घनानन्द, आलम, ठाकुर ऐसे प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं जिनकी रचनाओंसे हिन्दीका हृदय हरा-भरा है। इन कवियोंके हृदयमें प्रेमकी पीड़ा थी। उसी पीड़ाकी अभिव्यंजनाके लिए वे कविता करते थे। विहारीकी तरह कविता उनकी मौजकी चीज न थी। वह थी उनके अन्तरतमकी गुप्त वेदनाकी बरवस बरस पड़नेवाली सावन-भादोंकी रिम-झिम झड़ी।

'रसखान' का विवेचन हो चुका है। 'आलम' जातिके ब्राह्मण थे, परन्तु एक रँगरेजिनके प्रेममें फँसकर मुसलमान हो गए। रँगरेजिन इनकी पगड़ी रंग रही थी कि उसको खूँटमें उसे एक पुर्जा मिला। उसमें—

" कनक छरी-सी कामिनी।
काहे को कटि छीन॥"

यह अधूरा पद था। उसकी पूर्त्ति इस तरह करके :—

" कटि को कंचन काटि बिधि,
कुचन मध्य धरि दीन ॥ "

उस रँगरेजिनने पगड़ी 'आलम' के पास पहुँचा दी। कवि-हृदयकी भावुकता अपनी अपूर्व एकता पहचानकर एक दूसरेपर निछावर हो गई। शादीके बाद दोनों मिल-जुलकर रचना करने लगे। तल्लीनता और उमंगमें आकर शृंगार-रसपर ऐसी उन्मत्त-कारिणी रचनाएँ इन्होंने की हैं जो प्रेमकी पीड़ाकी गूँज कही जाती हैं। इनकी भाषा परिमार्जित और सुव्यवस्थित है। "आलम-केलि" नामक ग्रन्थमें इनकी रचनाओंका अच्छा संग्रह है। एक उदाहरण लीजिये :—

" जा थल कीने बिहार अनेकन
ता थल काँकरि बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन,
ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं ॥
"आलम" जौंन से कुंजन में करि केलि,
तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी
अब कान कहानी सुन्यो करैं ॥"

" घन आनन्द " १७९६ में नादिर-शाहीमें मारे गए। यह जातिके कायस्थ और दिल्लीके बादशाह मुहम्मदशाहके मीर-मुंशी थे। 'सुजान', नामकी वेश्यापर इनका गुप्त प्रेम था। यह गाते भी खूब थे। दरबारियों के कुचक्रसे इन्हें दरबारसे निकलना पड़ा। 'सुजान' ने भी साथ नहीं दिया। पार्थिव-प्रेम पलट कर पारमार्थिक रूपमें बदल गया। वृन्दावन आकर रहने लगे। नादिर शाहकी सेना मथुरा आई और लोगोंके कहनेमें आकर मीर-मुंशो " घनानंद " से भी 'जर' वसूल करने वृन्दावन तक सिपाही दौड़े आए। 'जर' के बदले 'रज' देनेपर राक्षसी-वृत्तिवाले सिपाहियोंने इनके हाथ काट डाले।

" घनानंद " की भाषा व्रजभाषाका विशुद्ध स्वरूप है। सूर और बिहारीकी भाषासे भी अधिक परिमार्जित और मधुर है। श्रृंगारके वियोग पक्षपर ही इनकी रचना अधिक है। इनके भावोंमें बरसातका भीम वेग नहीं है। शरत्-कालीन सरिताकी तरह उनके प्रेमका प्रवाह भी प्रशान्त गतिसे, मृदु-मंजुल लहरियोंको छहराता, मन्द-मधुर कलकलसे गाता चलता है। व्रज-भाषाके प्रेमी-कवियों में " घनानंद " का बहुत ऊँचा स्थान है। प्रेमकी निगूढ़ तथा गहन पीड़ाकी व्यंजना सुनिए तो सही :—

" पहिले अपनाय सुजान सनेह सों,
क्यों फिर नेह को तोरिए जू ?

निरधार अधार दै धार मझार,
दई गहि बाँह न बोरिए जू ॥
" घन आनँद " आपने चातक को,
गुन बाँधि कै मोह न छोरिए जू ।
रस प्याय कै ज्याय बढाय कै आस,
बिसास में क्यों विष घोरिए जू ॥ "

कथात्मक काव्योंमें सबलसिंहका ' महाभारत ', गुरुगोविंद-सिंहका-'चंडी चरित्र', चन्द्रशेखर कविका ' हम्मीर हठ ', लालकविका ' छत्र प्रकाश ', जोधराजका, 'हम्मीर रासो' और सूदनका ' सुजान चरित्र '—आदि अधिक रस-सिक्त तथा प्रसिद्ध हैं।

नीति-सूक्तिकारोंमें हृदयकी अनुभूति तथा मर्म व्यंजनाके लिए, इस कालमें, वृंद, गिरिधर, घाघ और वैताल लोकमें प्रख्यात हैं।

महाराज विश्वनाथसिंह रीवाँके सुप्रसिद्ध भक्त तथा विद्या-व्यसनी नरेश थे। आपने १७७८ से १७९७ तक राज्य किया। अनेक पुस्तकें आपने लिखीं। व्रजभाषामें ' आनंद-रघुनंदन-नाटक ' नामक नाटक लिखनेका श्रेय आपको ही है। हिन्दीके प्रथम नाटक-कार आप ही माने जाते हैं।

भक्तवर नागरी दासजी, गुमान मिश्र, बोधा, ठाकुर, बाबा दीन दयाल गिरि, पजनेस, द्विजदेव,—आदिका केवल नामोलेख्य करके ही हम इस-प्रसंगको यहीं छोड़ देते हैं।

आधुनिक काल

(१९०० से १९९१.)

(प्राचीन परम्परा)

रीति-कालके समाप्त होते-न-होते देशमें अंग्रेजी राज्यकी जड़ जम गई। साथ ही सात समुद्र-पारसे आई शिक्षा और सभ्यताकी एक नई लहर भी देशमें दौड़ने लगी। नई आकांक्षा, नई भावना, नई भाषाका प्रभाव बड़ी तीव्रतासे जन-मानसपर पड़ने लगा। अभीतक देशी-भाषाओंके गद्य-साहित्यका सम्यक् विकास नहीं हो सका था। हिन्दी-साहित्यमें तो गद्यका मानो बहिष्कार ही कर दिया गया था—सभी कुछ पद्यमें ही—(सो भी पुरानी हिन्दीमें) लिखा जाता था। अंग्रेजी राज्यके जमते ही कुछ लोगोंका ध्यान गद्यकी ओर गया। अंग्रेजोंने भी गद्यके विकासमें हाथ बँटाया। इस कामके लिए दिल्ली, आगरे और मेरठकी बोली पकड़कर खडी की गई। इस 'खड़ी-बोली' ने ऐसा जादू किया कि थोड़े ही दिनोंमें इसने जनताके हृदयको वशीभूत कर लिया। देशने एक स्वरमे 'खड़ी-बोली' को गद्यके सिंहासनपर बिठा दिया। हिन्दीका यह सौभाग्य ही समझिए, कि उसमें गद्यका विकास पहले नहीं हुआ था। इसीसे विना विरोध पंजाबसे लेकर कलकत्ते तक खड़ी-

बोलीकी तूती बोलने लगी। स्कूलोंकी माध्यम भाषा भी वही हुई और वही सारे हिन्दी-संसारकी महामहिमामयी मातृ-भाषा मान ली गई।

प्रथम उत्थानमें कविताकी भाषा पुरानी ही रही। खड़ी-बोलीमें भी कविता हो सकती है, उस समयके साहित्यिकों या नेताओंको विश्वास नहीं था। सूर, तुलसी, बिहारीके वाणी-विलासी लोग ऊबड़-खाबड़ 'खडी-बोली' को कविता-क्षेत्रसे परे मानते थे। इसीसे कविता-को पुरानी धारा भारतेन्दु कालतक अबाध गतिसे चलती रही। इस समय तक सेवक, रघुराजसिंह, सरदार, रामसनेही, ललित-किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम, गोविंद गिल्लाभाई, हरिश्चन्द्रा-दिने व्रज-भाषामें अच्छी रचनाएँ कीं। गिल्लाभाईका एक पद देखिए।

"बेर-बेर पावक में कंचन तपाय तऊ,
रंचक ना रंग निज अंग को मिटावै है।
चंदन सिलान पर घिसत अमित तऊ,
सुंदर सुगंध चारो ओर सरसावै है॥
पेरत हैं कोल्हू माँहिं ऊख को अधिक तऊ,
मंजुल मधुरताई नेकु न नसावै है
"गोविंद" कहत तैसे कष्ट काय पाय तऊ,
सुजन सुभाव नाहिं आप बदलावै है॥"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रका परिचय हमारे इस “ संग्रह ” में आ गया है। उनकी रचनाओंके नमूने भी उसमें दिए गए हैं। भारतेन्दु आधुनिक हिन्दीके उन्नायकोंमें अग्र-गण्य माने जाते हैं। गद्यके विविध अछूते अंगोंकी पूर्त्तिमें उन्होंने अत्यन्त स्तुत्य प्रयत्न किया, इसमें कोई संदेह नहीं। वे हिन्दीमें नाटकोंके ‘ जन्म-दाता ’ भी कहे जाते हैं। गद्यके इतने बड़े प्रेमी तथा उद्भट लेखक होते हुए भी उन्होंने पद्यकी भाषामें खड़ी-बोलीको नहीं अपनाया। सदा ब्रज-भाषामें ही कविता करते रहे। किसीके कहनेपर उन्होंने एक बार खड़ी-बोलीमें कविता करनेका प्रयोगात्मक प्रयास किया भी, परंतु शीघ्र इस निश्चयपर पहुँच गए कि खड़ी-बोलीमें कविता नहीं हो सकती है। कुछ समयके लिए मानो खड़ी-बोलीके लिए कविताका द्वार बंद-सा हो गया। कविता उसी पुरानी पोशाकमें जीवन-गलीकी सैर करती चली। हरिश्चन्द्रके समयसे ही कवितामें भी नवीन उद्भावनाओंका समावेश शुरू हुआ। यह भी समयका प्रभाव था। सात समुद्रके पारसे शिक्षा-सभ्यताकी जो लहर दौड़ी आ रही थी, उससे कविता-कामिनी-का कलेवर अछूता कैसे रहता। भारतेन्दुकी कविता एक ओर जहाँ सूर, बिहारी, रसखान तथा घनानन्दकी श्याम घन-घटाकी तरह घहरकर उमड़कर अवारित प्रेम-वर्षा करती है—प्रेम-पीड़ाकी व्यंजना-में अद्भुत विद्युच्छटा छिटकाती है, वहाँ दूसरी ओर देश, धर्म, समाज तथा भाषाकी दुर्दशापर भी अटूट आँसू बहाती है।

कविताका कलेवर पुराना ही रहा, लेकिन उसमें नई आत्मा प्रवेश पाने लगी। देश-भक्तिकी एक नई तरंग उत्पन्न हुई जिसने कविताका टूटा हुआ सम्बन्ध, फिरसे, जनताके साथ जोड़ दिया।

आज तक साहित्यकी भाषा पद्य-मयी थी। इसीसे बहुत-सी आवश्यक बातें साहित्यमें नहीं आ पाती थीं। अब गद्यका प्राबल्य हुआ। गद्य लिखना भी सरल था। अतः चिंताका स्रोत बड़े जोरसे गद्यमें बह चला। कविताका क्षेत्र सहसा संकुचित हो गया। अगर 'भारतेन्दु' गद्यकी ओर नहीं झुके होते, तो न जाने व्रज-भाषका भांडार वह और कितना भर जाते। फिर भी उनमें सहृदयता तथा प्रतिभाका समान विस्तार था, इसी कारण वह पद्य और गद्य दोनोंमें एक-सी कृत-कार्यता दिखा सके। उनकी कविताओंका सरस संग्रह "प्रेम-माधुरी", "प्रेम-फुलवारी", "प्रेम-मालिका", "प्रेम-प्रलाप" आदिमें हुआ है। कविताकी पुरानी भाषाकी रूढ़ियोंकी कई कड़ियाँ भी उन्होंने तोड़ डाली थीं।

भारतेन्दु असमय ही अस्त हो गए। लेकिन उनके मंडलके पं. प्रताप नारायणजी, उपाध्याय बदरी नारायण (प्रेमघन), ठाकुर जग मोहन सिंह, अम्बिका दत्त व्यास, बाबू राम कृष्ण वर्मा—वगैरह भारतेन्दुके चलाए पथपर चलते रहे। ये लोग समस्या-पूर्त्ति बहुत अच्छी करते थे। 'प्रेमघन' का अनुप्रास-अनुरंजित एक सवैया सुनिए:—

"बगियान बसंत बसेरो कियो,
बसिए, तेहि त्यागि तपाइए ना ।
दिन काम-कुतूहल के जो बने,
तिन बीच बियोग बुलाइए ना ॥
घन प्रेम बढ़ाय कै प्रेम, अहो ।
बिथा-बारि वृथा बरसाइए ना ॥
चित चैत की चाँदनी चाह भरी,
चरचा चलिबे की चलाइए ना ॥"

प्रताप नारायण मिश्रकी 'हिन्दी की हिमायत' तो पढ़िए:—

"चहहु जु साँचै निज कल्यान ।
तो सब मिलि भारत-संतान ॥
जपो निरंतर एक जबान ।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥
तबहिं सुधरिहै जन्म निदान ।
तबहिं भलो करिहै भगवान ॥
जब रहिहै यह निसि-दिन ध्यान ।
हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ॥"

किन्तु इस समय गद्यकी लोक-प्रियता ऐसी बढ़ी, कि कविताकी बातें भूलने-सी लगी। अंगरेजी-कविताके पठन-पाठनसे गद्य-और पद्यकी भाषाको एक करनेकी ओर लोगोंका ध्यान,

बरबस, बार-बार जाने लगा। हिन्दी-गद्यके प्रेमियोंकी यह तीव्र आकांक्षा हुई कि पद्य भी आधुनिक हिन्दीमें लिखे जाएँ तो साहित्यमें ज्यादा सुबोधता आ जाए और उसके प्रचारका क्षेत्र भी विस्तृत हो रहे। सरस्वती पत्रिकाके सम्पादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदीने इस दिशामें स्तुत्य श्रम किया। वह स्वयं खड़ी-बोलीमें रचना करने लगे। उनकी देखा-देखी नव-युवकोंका हृदय खड़ी-बोलीका हामी हो उठा। व्रज-भाषाकी कवितामें भारतेन्दुके अस्त होते ही जो शिथिलता आने लगी थी, अब द्विवेदीजीकी सरस्वती उसकी धाराको निष्प्राण बनाने लगी। फिर भी पं. अयोध्याय सिंह उपाध्याय (हरिऔध), लाला सीताराम (भूप), पं. श्रीधर पाठक, बाबू जगन्नाथ दास (रत्नाकर), राय देवी प्रसाद (पूर्ण), पं. सत्यनारायण कविरत्न, पं. रामचन्द्र शुक्ल, वियोगी हरि, लाला भगवान दीन, सनेही—आदि कविवर व्रज-भाषाके आँसू पोंछते ही आए हैं। उपर्युक्त महानुभावोंमें कई तो खड़ी-बोलीमें भी सफल रचना कर चुके हैं और उसके उन्नायकोंमें भी परिगणित होते हैं। पुरानी धाराके आखिरी खेवेके कवियोंमें श्रीधर पाठक तथा 'रत्नाकर' जीका स्थान सर्व श्रेष्ठ है। पाठकजीका वर्षा-वर्णन सुनिए:—

" बारि-फुहार-भरे बदरा,
सोइ सोहत कुंजर से मतबारे।

बीजुरी-जोति धुजा फहरै,
घन-गर्जन-सब्द सोई हैं नगारे ॥
रोर को घोर न ओर न छोर,
नरेसन की सी छटा छबि धारे ।
कामिन के मन को प्रिय पावस,
आयो, प्रिये । नव मोहनी डारे ॥"

'रत्नाकर' जीके "गंगावतरण" "हरिश्चन्द्र", और "उद्धव शतक" काव्य ग्रन्थ गंग, पद्माकर और सेनापति की याद दिलाते हैं ।

एक पद पढ़िए:—

"बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत ही,
धाक सुरधुनि की धँसी यों घट घट में ।
कहै 'रतनाकर" सुरा सुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्रपट में ॥
लोक पाल दौरन दसौ दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट में ।
खसन गिरीस लागे, त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटितट में ॥"

वियोगी हरिकी "वीर-सतसई" तो साहित्यिक पुरस्कार भी पा चुकी है । उसी प्रकार रामचन्द्र शुक्लका "बुद्ध-चरित"

भी पुरानी-कविताका सुन्दर ग्रन्थ है। फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है, कि अब पुरानी धाराका गर्भ सूख-सा गया, उसका युग बीत-सा गया। इसका राग अब 'गंगाकी गैलमें मदार के गीत' की तरह अस्वाभाविक प्रतीत होने लगा है, क्योंकि यह उज्ज्वल युग खड़ी-बोलीके प्रतापका यश गा रहा है। इस-युगके सच्चे साहित्यका परिचय "नवीन-पद्य-संग्रह" में दिया जाएगा।

(उपसंहार)

यह युग खडी-बोलीके प्रतापका है सही, पुरानी परिपाटीकी कविताकी धारा सूखती-सी दीखती है सही, व्रज-भाषाके विरोधमें काफी आवाज भी उठाई जा रही है सही, नव-युवक कविगणोंकी पुरानी हिन्दीमें रचना करने को प्रवृत्ति नहीं रही सही, फिर भी विद्यापति, सूर, तुलसी, बिहारी, रसखान, घनानन्द, गंग, सेनापति, पद्माकर, भारतेन्दु—आदिकी रचनाओंका जब तक आदर-मान और पठन-पाठनकी प्रणाली हिन्दी-संसारमें जारी रहेगी, तब तक पुरानी धारा एक दम सूख नहीं सकेगी। समय-समयपर उसमें सत्यनारायण, रत्नाकर, वियोगी हरि, रसाल, शुक्ल—ऐसे कविवर उत्पन्न होते ही रहेंगे। यह तो कभी संभव नहीं, कि राम और कृष्णके उन अद्भुत भक्त-कवियों की "पदावली", "मानस" और "सागर" से कभी उपेक्षा या अनादर हो सके—हिन्दी-हृदय कभी विद्यापति, तुलसी, और सूर को भूल सके। बल्कि होगा ठीक इस शंकाके प्रतिकूल।

जैसे-जैसे हिन्दी-संसारमें साहित्यिक संस्कृतिकी चेतना जागृत होती जाएगी, उन लोक-विश्रुत रचनाओंका अध्ययन-अध्यापन, मनन-चिंतन भी अधिकसे अधिकतर होता जाएगा। बिना अपने प्राचीन साहित्यके पूर्ण ज्ञानके कोई अपनेको विद्वान कहेगा कैसे? यह भावना अभी प्रबल है, आगे तो और भी प्रचंड होती जाएगी।

फिर उनके पठन-पाठनसे जो संस्कार पैदा होता रहेगा उसकी सृजन-शक्तिको कौन रोक सकेगा? सबसे बडी सुगमता और आकर्षण तो यह है, कि थोडे शब्दोंमें आसानीसे व्रजभाषामें अच्छी रचना बन पडती है, जिस गुणका खडी-बोलीमें अभाव-सा है। अतएव यह निश्चित है कि विद्यापति, सूर, तुलसी और बिहारीकी भाषा कभी निर्जीव नहीं हो सकेगी। समय-समयपर उसमें रचना करनेवाले अवश्य पैदा होते रहेंगे।

हाँ, एक बात होगी अवश्य। पुरानी धाराकी नई रचनाका क्षेत्र संकुचित होता जाएगा। इस नूतन सामग्रीका पठन-पाठन भी सीमित स्थलमें ही होगा। वह राष्ट्र-भाषा खडी-बोलीकी होडमें कभी नहीं आ सकेगी। राष्ट्र-भाषाकी भारती कल्लोलिनी गंगाकी तरह गरजती चलेगी और पुरानी हिन्दीकी नई रचना गया-क्षेत्रकी फल्गु नदीकी तरह अलख गतिसे विष्णु-पदकी पूजा करती रहेगी।

श्रीरामानन्द शर्मा.

कबीरदास

पुण्य-पुरी काशी में एक ब्राह्मण-परिवार था। वह उस समयके सुप्रसिद्ध वैष्णव स्वामी रामानन्दजी का भक्त था। उसके एक युवती विधवा कन्या थी। एक समय अपनी पुत्री के साथ वह विप्र स्वामीजी के दर्शनों को गया। विदा होते समय स्वामीजी ने सबों को आशीर्वाद दिया। आशीष के शब्दों में उस युवती-वाला के लिए 'पुत्रवती भव' पद अचानक निकल गया। संकोच के कारण पिताने रहस्य का उद्घाटन नहीं किया—चुपचाप घर चला आया।

महात्मा की वाणी अमोघ प्रमाणित हुई। सामाजिक अत्याचार के आतंक से घबड़ाकर वह विधवा सं. १४५५ वि. की ज्येष्ठ-पूर्णिमा की पुण्यतिथि में अपने कलेजे के टुकड़े को आँचल से छिपाये, बड़े तड़के, काशी के 'लहर तालाब' पर आई।

अबोधा, अबला, आतंकिता, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ा, लज्जा-शीला तरुणी ने कलेजे पर पत्थर रखकर, आँखों में निविड़ नैराश्य भरकर, ईश्वर और धर्म को कोसकर अपने प्राण-पुष्प-पुत्र को, थोड़ी दया के साथ—तालाब में न फेंककर—किनारे पर रख दिया, और सूर्य्योदय के पहले ही अपना काला मुख ले कर उसी समाज में चली गई।

संयोग। एक जुलाहा अपनी स्त्री के साथ कहीं जा रहा था। रास्ते में वही तालाब आया, और आई एक बच्चे की क्रन्दन-ध्वनि उसके कानों में। वह निस्सन्तान था। नीरू ने अपनी तरुणी रमणी की ओर देखा। नीमा दौड़ी गई, और बड़ी व्यग्रतासे उस अनाथ शिशु को उठा लाई। सन्तान-लालसी माता-पिता का हृदय गद्गद हो गया—पुत्र-रत्न पाकर। जो मरण-शील मानवों को अमरता का पाठ पढ़ाने आया था, वह गर्भ-धारिणी की क्रूरतासे भी कुचला नहीं गया। क्या इसी को लक्ष्य करके, बाद में, उस महात्मा ने कहा था—

"जाको राखै साँइयाँ, मारि न सक्के कोय।
बाल न बाँका करि सकै, जौं जग बैरी होय॥"

बच्चे का नाम, जुलाहे परिवार में, पड़ा कबीर। वह नीरू और नीमा का नेत्र-तारा होकर बढ़ने लगा।

कबीर की जन्म-कथा से, अगर महात्मा के आशीर्वाद की अलौकिकता निकाल दें, तब भी कथा की सहज धारा में कोई रुकावट नहीं आती है।

उस समय काशी में स्वामी रामानन्द की भक्ति-भागीरथी की धारा प्रबल वेग से प्रवाहित थी। आचार्य रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी स्वामी रामानन्दजी ने वैष्णव-धर्म में एक मौलिक क्रान्ति कर दी। क्षीरशायी विष्णु का दशरथ-नन्दन श्री रामचन्द्र में तादात्म्य स्थापित करके वैष्णव-धर्म को लोक-धर्म ही नहीं बना दिया, वरन उन्होंने भक्ति-भवन के द्वार को भी मानव-मात्र के लिये उन्मुक्त कर दिया। शताब्दियों से उपेक्षित तथा दूर-संस्थित निम्न-श्रेणी के लोगों में सहसा

अभिनव उमंग की स्फूर्ति स्पन्दित हुई। चन्दन-तिलक तथा राम-नाम का समानाधिकार प्राप्त होता हुआ देखकर एक बार मूक-मानवों की श्रद्धा के उत्समें भयंकर जल-प्लावन आ गया और दिव्य आनन्द के अतिरेक से आवेगमयी श्रद्धालु जनता उस महावैष्णव की पद्-धूलि में लोटने लगी। सर्वत्र राम-नाम की धूम थी—सर्वत्र कंठी-माला की चर्चा थी—सर्वत्र चन्दन-तिलक का प्रचार था। कबीर के शैशव का यही समय था।

जुलाहा, मुसलमान होते हुए भी, हिन्दू-समाज से बहुत मिलाजुला रहता है। वह नाम-मात्र का ही मुसलमान होता है। उसके बाह्याभ्यन्तर जीवन में हिन्दू-धर्म का गहरा संस्कार परिलक्षित होता है। ऐसे समाज में कबीर का लालन-पालन हुआ। बचपन से ही वह सरल, श्रद्धालु, सत्य-प्रिय, सुशील तथा धर्म-भीरु था। समय के प्रभाव में पड़कर उसने बड़ी व्यग्रता से चन्दन-तिलक लगाया और राम-नाम को अपनाया। उसकी भक्ति, श्रद्धा, सेवा, प्रेम तथा उत्सुक-व्यग्रता देखकर उस महामानव रामानन्द ने कबीर को अपना शिष्य बना लिया और विधि-विहित शिक्षा-दीक्षा देकर उसको प्रकाश के परम प्रशास्त पथका दुस्साहसी पथिक बना दिया।

कबीर निरक्षर थे—लिख-पढ़ नहीं सकते थे। धर्म का ज्ञान उन्होंने पोथी पढ़कर नहीं पाया था। सत्संग के प्रत्यक्ष संस्पर्श से अज्ञान का पर्दा हट गया और साधना की आग से ज्ञान की ज्योति जगमगा उठी। उस परम प्रोज्ज्वल प्रकाश में उन्होंने आत्मा-हंसका स्वरूप पहचान लिया।

वह अन्तर्जगत में डूब कर अचिन्त्य रहस्य का उद्घाटन करता था। तभी तो वह रहस्य-वादियों का गुरु माना जाता

है। साधना-उद्यान में बैठकर जब वह अपने प्रियतम को रागात्मिका हिंडोलेपर झुलाता था, तब बरबस उसके मुख से आनन्दामृत की झड़ी लग जाती थी।

ज्ञानमय कबीर धर्म के आडम्बरों का कट्टर शत्रु बन गये। ज्ञानकी आग में सब असत भस्मसात हो जाते हैं। जिस वैष्णव धर्म में वह दीक्षित हुए थे, उसी के बाह्याडम्बरों की उन्होंने बड़ी निर्भयता से कड़ी आलोचना की। मानव-मात्र का धर्म एक है—हिन्दू या मुसलमान होने से—केवल नाम में भेद होने से—धर्म में, ज्ञान में भेद नहीं हो सकता। इसी लिये धर्म-ढोंगी पंडितों और मुल्लाओं को उन्होंने खूब खरी-खोटी सुनाई। कबीर के समान निर्भीक आलोचक अभी तक कोई दूसरा पैदा नहीं हुआ।

कबीर गृहस्थ-साधु थे। लोई इनकी धर्मचारिणी पत्नी थी और कमाल इनका विद्रोही पुत्र।

'बूड़ा वंश कबीरका, उपजा पूत कमाल।'

इससे पता चलता है, कि कमाल कैसा पुत्र था। इसने बापके उपदेशोंका खंडन किया है।

इतने बड़े ज्ञानी और महात्मा होकर भी कबीरने अपना पेशा—कपड़े बुननेका—नहीं छोड़ा। करघेपर बैठकर वह बाह्य प्रकृति का अन्तः प्रकृतिसे मेल किया करते थे। अपने आगे ताने-बाने का खेल देखकर उनकी दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती, और वे मस्त होकर गा उठते :—

"झिनि झिनि झिनि झिनि बिनी चदरिया।"

इस प्रकार कबीरके मुखसे निरन्तर अमृत-वर्षा होती रहती थी, और उनके चरणों में बैठा उनका शिष्य-समुदाय उन वाणियोंका संग्रह करता जाता था। आज कबीरके नामपर हिन्दी-साहित्यमें बीसियों पुस्तकें पाई जाती हैं। अधिकांशमें वे सब उनके शिष्यों द्वारा ही संकलित हैं। कबीर दासकी 'साखी,' 'शब्दावली,' 'उलटी,' 'वाणी,' 'बीजक' आदि बहुत मशहूर हैं। पिंगलकी फिक्र उन्हें नहीं थी—शायद छन्दः शास्त्रके वे ज्ञाता न थे। फिर भी उनके काव्यमें प्रतिभा की प्रचंड प्रखरता देदीप्यमान हो रही है।

उनके शिष्योंमें हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। परन्तु कबीर दासका प्रभाव सामूहिक रूपसे दोनों समाजपर नहीं पड़ा। समाजके कर्णधार थे स्वार्थान्ध पंडित और मुल्ला। कबीरकी कड़ी आलोचनाओंसे वे तिलमिला उठे और चारों ओरसे उनपर आवाजें कसी जाने लगीं। यही कारण था, कि शिष्ट समाजमें इस महात्माकी पहुँच अधिक नहीं हो सकी।

इनके चलाये हुए धर्म-मार्गको 'कबीर-पंथ' कहते हैं। उत्तर भारत के निम्न श्रेणीके लोगोंमें इस 'पंथ' का खूब प्रचार है। जिस प्रकार तुलसीदास शिष्ट समाजके कंठहार हैं, उसी प्रकार कबीर निम्न श्रेणीके श्रान्त-क्लान्त जीवनके विश्रामागार हैं। कतिपय राजे-महाराजे भी इनकी पंथ-परंपरामें पाये जाते हैं—अत्यन्त विरल।

कबीर रूढ़ियोंके कट्टर दुश्मन थे। अपने जीवनका अधिकांश भाग मुक्ति-प्रदायिनी काशी नगरीमें बिताकर अन्त कालमें वह मगहर आकर मरे। मगहरमें मरना अशुभ माना जाता है। किन्तु जो—

"सूली ऊपर घर करै, विषका करै अहार।
ताको काल कहा करै, जो आठ पहर हुसियार।"

उसको काशी या मगहरकी क्या फिक्र? उसने दर्पसे कहा—

"जौं कबीर कासी मरै, तो रामहिं कौन निहोरा॥"

और मगहरमें आकर सं. १५७५ वि. में. १२० वर्ष की परमायुमें, अपना चोला बदल दिया। उनके दिवंगत होते ही अन्त्येष्टि संस्कारके निमित्त शिष्योंमें विवाद उठ पड़ा। हिन्दू उनकी मृत-देहको जलाना और मुसलमान दफनाना चाहते थे। उस समय एक अद्भुत बात हो गई। लाशको उघारने पर वहाँ सुमनोंकी राशि पड़ी मिली। शिष्योंके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। हिन्दुओंने आधे फूलोंको चितापर जलाया और मुसलमानोंने आधेको दफनाया। मरते-मरते भी यह महात्मा धार्मिक झगड़ोंको मिटाता गया।

कबीरदास सत्य, अहिंसा और दयाके उपासक एवं प्रचारक थे। हिन्दू और मुसलमानों को वह प्रेमके एक मार्गपर ले आना चाहते थे, जिस से आए-दिनके धार्मिक झगड़ोंका नाश हो जाए।

———

साखी

चार भुजाके भजनमें, भूलि परे सब संत ।
कबिरा सुमिरै तासुको, जाके भुजा अनन्त ॥ १ ॥

जाको राखै साँइयाँ, मारि न सकै कोय ।
बाल न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय ॥ २ ॥

तेरा साँई तुज्झमें, ज्यों पुहुपनमें बास ।
कस्तूरीका मिरग ज्यों, फिर फिर ढूढ़ै घास ॥ ३ ॥

नाम रतन धन पाइकै, गाँठी बाँध न खोल ।
नाहीं पन नहिं पारखू, नहि गाँहक नहिं मोल ॥ ४ ॥

सभी रसायन हम करी, नहीं नाम सम कोय ।
रंचक घटमें संचरै, सब तन कंचन होय ॥ ५ ॥

लाली मेरे लालकी, जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल ॥ ६ ॥

आतम अनुभव ज्ञानकी, जो कोइ पूछै बात ।
सों गूंगा गुड़ खाइ कै, कहै कौन मुख स्वाद ॥ ७ ॥

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय ।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ॥ ८ ॥

कामी क्रोधी लालची, इनतें भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति, बरन, कुल खोय ॥ ९ ॥

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुईं धरै, तब पैठे घर माहिं ॥ १० ॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहिं रुचै, सीस देइ लै जाय ॥ ११ ॥

छिनहिं चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय।
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ॥ १२ ॥

जा घट प्रेम न संचरै, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लोहार की, साँस लेत विनु प्रान ॥ १३ ॥

हम तुम्हरो सुमिरन करें, तुम मोहिं चितवौ नाहिं।
सुमिरन मनकी प्रीति है, सो मन तुम ही माहिं ॥ १४ ॥

पीया चाहै प्रेम-रस, राखा चाहै मान।
एक म्यानमें दो खड़ग, देखा-सुना न कान ॥ १५ ॥

मिलना जगमें कठिन है, मिलि बिछुड़ो जनि कोय।
बिछुड़ा सज्जन तेहि मिलै, जिन माथे मनि होय ॥ १६ ॥

नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पियको लिया रिझाय ॥ १७ ॥

हरिसे जनि तू हेत कर, कर हरिजनसे हेत ।
माल-मुलुक हरि देत हैं, हरिजन हरि हीं देत ॥ १८ ॥

प्रीतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस ।
तनमें, मनमें, नैन में, वाको कहा सँदेस ॥ १९ ॥

अगिनि आँच सहना सुगम, सुगम खड़ग की धार ।
नेह निभावन एक रस, महा कठिन व्योहार ॥ २० ॥

नेह निभाए ही बनै, सोचे बनै न आन ।
तन दे, मन दे, सीस दे, नेह न दीजै जान ॥ २१ ॥

दुखमें सुमिरन सब करै, सुखमें करै न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करै, तो दुख काहे होय ॥ २२ ॥

माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर ।
करका मनका डारिदे, मनका मनका फेर ॥ २३ ॥

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरे मुख माहिं ।
मनुवाँ तो दस दिसि फिरे, यह तो सुमिरन नाहिं ॥ २४ ॥

पौ फाटी पगरा भया, जागे जीवा जून ।
सब काहू को देत है, चोंच समाता चून ॥ २५ ॥

साँई इतना दीजिए, जामें कुटुंब समाय ।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥ २६ ॥

माली आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार ।
फूले फूले चुन लिये, काल्हि हमारी बार ॥ २७ ॥

सिंहोंके लेहँड़े नहीं, हंसोंकी नहिं पाँति ।
लालों की नहिं बोरियां, साधु न चलैं जमाति ॥ २८ ॥

आछे दिन पाछे गये, हरिसे किया न हेत ।
अब पछताये होत क्या, चिड़ियाँ चुग गईं खेत ॥ २९ ॥

पानी बाढ़े नाव में, घरमें बाढ़े दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यहि सज्जन का काम ॥ ३० ॥

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तरबारका, पड़ा रहन दो म्यान ॥ ३१ ॥

गाँठी दाम न बाँधई, नहिं नारी से नेह ।
कह कबीर ता साधु के, हम चरनन की खेह ॥ ३२ ॥

सूली ऊपर घर करै, विषका करै अहार ।
ताको काल कहा करै, जो आठ पहर हुसियार ॥ ३३ ॥

मरिये तो मरि जाइए, छूटि परै जंजार ।
ऐसा मरना को मरै, दिनमें सौ-सौ बार ॥ ३४ ॥

सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर होय ।
जैसे बाती दीप की, कटि उजियारा होय ॥ ३५ ॥

नैनों अन्तर आव तूँ, नैन झाँपि तोहिं लेउँ।
ना मैं देखूँ और को, ना तोहि देखन देउँ॥ १० ॥

हस्ती चढ़िए ज्ञानकी, सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, भूकन दे झख मारि॥ ३७ ॥

जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रहो किनारे बैठ॥ ३८ ॥

मारग चलते जो गिरै, ताको नाहीं दोस।
कह कबीर बैठा रहै, ता सिर करडे कोस॥ ३९ ॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय॥ ४० ॥

तन तुरंग असवार मन, कर्म पियादा साथ।
त्रिसना चली सिकार को, बिषे बाज लै हाथ॥ ४१ ॥

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करै सुभाय॥ ४२ ॥

रूखा-सूखा खायके, ठंढा पानी पीव।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावे जीव॥ ४३ ॥

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते ये चक्की भली, पीस खाय संसार॥ ४४ ॥

सहज मिले सो दूध सम, माँगा मिले सो पानि ।
कह कबीर वह रक्त सम, जामें ऐंचातानि ॥ ४५ ॥

केसन कहा बिगारिया, जो मूँड़ो सौ बार ।
मन को क्यों नहिं मूँड़िये, जामें विषै बिकार ॥ ४६ ॥

तीरथ गए तीनि जन, चित चंचल मन चोर ।
एकौ पाप न काटिया, लादिनि मन दस और ॥ ४७ ॥

इक साधे सब साधिया, सब साधे इक जाय ।
जैसे सींचे मूल को, फूले फले अघाय ॥ ४८ ॥

हँस-हँस कंत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय ।
हाँसी-खेले पिउ मिले, तो कौन दुहागिन होय ॥ ४९ ॥

हम बासी वा देस जहँ, बारह मास विलास ।
प्रेम झरै बिगसै कँवल, तेज पुंज परकास ॥ ५० ॥

भजन

(१)

संतो देखत जग बौराना ।
साँच कहौं तो मारन धावै, झूठहिं जग पतियाना ।।

नेमी देखा धरमी देखा, प्रात करहिं असनाना ।
आतम मारि पखानहिं पूजैं, उनिमहँ किछू न ज्ञाना ।।

बहुतक देखा पीर औलिया, पढ़ै कितेब कुराना ।
कै मुरीद ततबीर बतावैं, उनमहँ उहै जो ज्ञाना ।।

आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन महँ बहुत गुमाना ।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना ।।

माला पहिरें टोपी पहिरें, छाप तिलक अनुमाना ।
साखी-सब्दै गावत भूले, आतम खबरि न जाना ।।

हिंदु कहैं मोहि राम पियारा, तुरुक कहैं रहिमाना ।
आपुस महँ दोउ लरि लरि मूये, मरम काहु नहिं जाना ।।

घर घर मंतर देत फिरतु हैं, महिमा के अभिमाना ।
गूरू सहित शिष्य सभ बूड़े, अंत काल पछिताना ।।

कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना ।
केतिक कहौं कहा नहिं मानैं, सहजै सहज समाना ॥

(२)

संतो राह दुनो हम डीठा ।
हिंदू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सभन्हि को मीठा ॥

हिंदू बरत एकादसि साधैं, दूध सिंघारा सेती ।
अनको त्यागैं मन नहिं हटकैं, पारन करैं सगोती ॥

तुरुक रोजा नीमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं ।
इनकी भीस्त कहाँते होइ है, साँझै मुरगी मारैं ॥

हिंदु कि दया मेहर तुरुकन की, दोनौं घटसों त्यागी ।
वै हलाल वै झटका मारैं, आगि दुनौ घर लागी ॥

हिंदु तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई ।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई ॥

(३)

(भाइरे) दुइ जगदीस कहाँते आये, कहु कवने भरमाया ।
अल्लह राम करीमा केसो, (हरि) हजरति नाम धराया ॥

गहना एक कनकते गहना, इनि महँ भाव न दूजा ।
कहन सुनन को दुइ करि थापिनि, इक निमाज इक पूजा ॥

वही महादेव वही महम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये ।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जमीं पर रहिये ॥

वेद कितेब वै कुतुबा, वै मोलना वै पांडे ।
बेगरि बेगरि नाम धराये, एक मटिया एक भाड़े ॥

कहँहिं कबीर वै दूनों भूले, रामहिं किनहुँ न पाया ।
वै खस्सी वै गाय कटावैं, बादहिं जन्म गँवाया ॥

(४)

पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी ।
जिहि मटिया के घर महँ बैठे, वा महँ सिस्टि समानी ॥

छपन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी ।
पैग पैग पैगंबर गाडे, सो सभ सरि भौ माँटी ॥

तेहि मटिया के भाँडे पाँडे, बूझि पियहु तुम पानी ॥

मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु मानुष सभ सरिया ॥

हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहाँते आया ।
सो लै पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥

बेद कितेब छांड़ि देहु पाँडे, ई सभ मनके भरमा ।
कहँहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई सभ तुहरे करमा ॥

(५)

माया महा ठगिनि हम जानी ।
तिरिगुन फाँस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥

केसो के कमला होय बैठी, सिवके भवन भवानी ।
पंडा के मूरति होय बैठी, तीरथहूँ महँ पानी ॥

जोगी के जोगिनि होय बैठी, राजाके घर रानी ।
काहू के हीरा होय बैठी, काहु के कौड़ी कानी ॥

भगतोंके भगतिनि होय बैठी, ब्रह्माके ब्रह्मानी ।
कहँहिं कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ अकथ कहानी ॥

(६)

अपुन पौ आपुहि बिसरो ।
जैसे सुनहा कांच मँदिल महँ, भरमते भूँसि मरो (रे)

जौं केहरि बपु निरखि कूप-जल, प्रतिमा देखि परो (रे)
वैसे ही गज फटिक सिलापर, दसनन्हि आनि अरो (रे)

मरकट मूँठि स्वाद नहि बिहुरै, घर घर रटत फिरो (रे)
कहँहिं कबीर ललनीके सुगना, तोहि कवने पकरो (रे)

(७)

घूंघटका पट खोल रे, तोको राम मिलेंगे ।
घट घटमें वह साईं रमता, कटुक वचन मत बोल रे ॥

धन जोबनको गरब न कीजै, झूठा पचरंग चोल रे ।
सुन्न महलमें दियना बारिले, आसन सौं मत डोल रे ॥

जोगजुगतसो रंगमहलमें, पिय पायो अनमोल रे ।
कहैं कबीर आनन्द भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ॥

(८)

संतो पांडे निपुन कसाई ।
बकरा मार भैंसापर धावैं, दिल मह दरद न आई ॥

करि असनान तिलक दै बैठे, बिधिते देवि पुजाई ।
आतम राम पलकमों बिनसैं,रुधिर कि नदि बहाई ॥

अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई ।
इनते दीक्षा सभ कोइ मांगै, हँसि आवत मोहि भाई ॥

पाप कटन को कथा सुनावहिं, करम करावहिं नीचै ।
हम तो दोउ परस्पर देखा, जम लाये हैं धोखै ॥

गाय बधै तेहि तूरुक कहिये, इनिते वै का छोटे ।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतो, कलि महँ ब्राह्मन खोटे ॥

(९)

पंडित देखहु मन महँ जानी ।
कहुधौं छूति कहाँ ते उपजी, तब हि छूति तुम मानो ॥

नादे बिन्दे रुधिर के संगे, घटहि महँ घट सपचै ।
अस्ट कवँल होय पुहुमी आया, छूती कहाँते उपजै ?

लख चौरासी नाना बासन, सो सभ सरि भौ मांटी ।
एकै पाट सकल बैठाये, छूति लेत धौं काकी ?

छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन, छूतिहि जगत उपाया ।
कहँहि कवीर ते छूति बिबरजित, जाके संग न माया ॥

(१०)

चलहुका टेढ़ों टेढ़ो टेढ़ो ।
दसहुँ द्वार नरक भरि बूड़े, तू गंधी को बेढ़ो ॥

फूटे नयन हृदय नहिं सूझै, मति एकौ नहिं जानी ।
काम क्रोध त्रिस्नाके माते, बूड़ि मुयहु बिनु पानी ॥

जो जारे तन होय भसम धुरि, गाड़े क्रिमि-किट खाई ।
सीकर स्वान कागका भोजन, तनकी इहै बड़ाई ॥

चेति न देखु मुगुध नर बौरे, तोहिते काल न दूरी ।
कोटिक जतन करहु यह तनकी, अन्त अवस्था धूरी ॥

बालू के घरवा महँ बैठे, चेतत नाहिं अयाना।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूड़े बहुत सयाना॥

(११)

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो, गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले॥ १॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोलै॥ २॥
सुरत कलारी, भइ मतवारी, मदवा पी गइ बिन तोले॥ ३॥
हंसा पाये मान सरोवर, ताल तलैया क्यों डोलै॥ ४॥
तेरा साहिब है घटमाँही, बाहर नैना क्यों खोलै॥ ५॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, साहिब मिल गये तिल ओले॥ ६॥

(१२)

मन लागो मेरे यार फकीरीमें।
जो सुख पायो राम-भजनमें, सो सुख नांही अमीरीमें॥
भला बुरा सबकी सुन लीजै, कर गुजरान गरीबी में॥
प्रेम-नगरमें रहनि हमारी, भलि बनि आई सबूरीमें॥
हाथमें कुंडी बगलमें सोंटा, चारो दिसि जागीरीमें॥
आखिर यह तन खाक मिलैगा, कहा फिरत मगरूरीमें॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, साहिब मिलै सबूरीमें॥

(१३)

समझ देख मन मीत पियारे, आसिक होकर सोना क्यारे ।
रूखा सूखा रामका टुकड़ा, फीका और सलोना क्यारे ॥
पाया हो, तो देले प्यारे, पाय पाय फिर खोना क्यारे ॥
जिन आँखिनमें नींद घनेरी, तकिया और बिछौना क्यारे ॥
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सीस दिया, तब रोना क्यारे ॥

(१४)

गुरु बिन कौन बतावे बाट ? बड़ा विकट यम घाट ॥
भ्रांतिकी पहाड़ी, नदिया बिचमों, अहंकारकी लाट ॥
काम क्रोध दो पर्वत ठाढ़े, लोभ चोर संघात ॥
मद मत्सरका मेहा बरसत, माया पवन बहे दाट ॥
कहत कबीर सुनो भई साधो, क्यों तरना यह घाट ?

(१५)

झिनी झिनी बिनी चदरिया ॥
काहे कै ताना, काहे कै भरनी,
कौन तारसे बिनी चदरिया ?

इंगला पिंगला ताना भरनी,
सुखमन तारसे बिनी चदरिया ॥

आठ कँवल दल चरखा डोले,
पाँच तत्त गुन तिनी चदरिया ॥

साईंको सियत मास दस लागै,
ठोक ठोकके बिनी चदरिया ॥

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढिके मेली किनी चदरिया ॥

दास कबीर जतनसे ओढ़ी,
ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥

(१६)

मन तोहे केहि बिध कर समझाऊँ ।
सोना होय तो सुहाग मँगाऊँ, बंकनाल रस लाऊँ ।
ग्यान शब्दकी फूँक चलाऊँ, पानी कर पिघलाऊँ ॥

घोड़ा होय तो लगाम लगाऊँ, ऊपर जीन कसाऊँ ।
होय सवार तेरेपर बैठूँ, चाबुक देके चलाऊँ ॥

हाथी होय तो जंजीर गढ़ाऊँ, चारो पैर बँधाऊँ ।
होय महावत तेरे पर बैठूँ, अंकुश लेके चलाऊँ ॥

लोहा हो तो ऐरण मँगाऊँ, ऊपर धुवन धुवाऊँ ।
धूवन की घनघोर मचाऊँ, जंतर तार खिंचाऊँ ॥
ग्यानी होय तो ग्यान सिखाऊँ, सत्य की राह चलाऊँ ।
कहत कबीर, सुनो भई साधो, अमरापुर पहुँचाऊँ ॥

(१७)

शूर संग्राम को देख भागै नहीं ।
देख भागै सो शूर नाहीं ॥

काम औ क्रोध मद लोभसे जूझना
मँडा घमसान तहँ खेत माहीं ।

शील औ सोच संतोष साही भये,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै ।

कहै कबीर कोइ जूझि है शूरमा,
कायराँ भोड़ तहँ तुरत भाजै ॥

(१८)

हमन हैं इस्क मस्ताना, हमनको होसियारी क्या ?
रहैं आजाद या जगमें, हमन दुनियासे यारी क्या ?
जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते ।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तजारी क्या ?

खलक सब नाम अपनेको, बहुतकर सिर पटकता है ।
हमन गुरु नाम साँचा है, हमन दुनियासे यारी क्या ?

न पल बिछुड़ें पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारेसे ।
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या ?

कबीरा इस्कका माता, दुईको दूरकर दिलसे ।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या ?

सूरदास

सूरदासजी का जन्म सं. ११४० वि. में हुआ। आगरा-मथुरा सड़कपर अवस्थित 'रुनकता' (रेणुका क्षेत्र) इनका जन्म-ग्राम है। इनके पिताका नाम था रामदास। यह सारस्वत ब्राह्मण थे। सूरदासजीका शैशव विप्र-कुलोचित शिक्षा-दीक्षामें समाप्त हुआ।

"इक भींजे, चहले पड़े, बूड़े, बहे हजार।
किते न औगुन जग करे, नइ-वइ चढ़ती बार!!"

वाला उद्दाम यौवन आया। विषय-भोगकी झंझा उठी। सूर-दासका पैर फिसल गया। कामुकताके प्रवाहमें पड़कर यह बहुत दूर बह गए।

'इन्तहाये नशामें आता है होश—'

के अनुसार इनको भी आखिर होश आया। एक दिन एक रूपसी तरुणी की ओर यह एकटक देख रहे थे—रूप-सुधाके पानमें मस्त थे। यही घड़ी जीवनकी धाराको मोड़नेवाली साबित हुई। न जाने किस दैवी प्रेरणासे प्रोत्साहित होकर वह सुन्दरी दृढ़तासे आगे बढ़ी और मुग्ध दर्शकसे बोली—'आपको क्या चाहिए?'

"रंग लाती है हिना, पत्थर पै पिस जानेके बाद।
होशमें आता है इन्साँ, ठोकरें खानेके बाद"—

करारेकी चपत खाकर सूरकी आँखें खुलीं। पूर्व जन्मके संस्कारने भूकम्प-सा धड़ाका किया। अनुतापकी आगमें जल कर वह कमनीय कंचन हो उठा। जिस दुष्टने आजतक उसको मर्कट-नाच नचाया, उस अधमको वह कड़ी सजा देगा। चैतन्य होकर उस युवकने युवतीसे याचना की—'माँ, मुझे दो सूई चाहिए।' हैरतमें भरकर रमणीने याचककी इच्छा पूर्णकी—दो सुइयाँ लाकर उसे देदीं। युवतीके सामने ही उस अनुतप्त युवकने सुइयाँ अपनी दोनों आँखोंमें चुभो लीं। उसी दिनसे वह 'सूरदास' हो गया। हिन्दीमें 'सूर' अन्धेको कहते हैं। सूरदास जन्मान्ध नहीं थे। जिस बदमाशने उनको इतना बहकाया, उसको उचित दंड देकर वह अन्तर्मुखी होगए।

बाहरकी आँखें बन्द होते ही उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई। कृष्ण-प्रेममें उन्मत्त होकर वह वृन्दावनमें भूखे-प्यासे भटकने लगे। बाहर कुछ सूझता था ही नहीं, भीतर अनुतापकी आँधी और विरहका बड़वानल धूधू करता था। कई दिन इसी तूफान में कट गए। एक दिन रास्तेमें एक कुँआ आ पड़ा। किसीने चिताया—'बाएँ, सूरदास, आगे कुँआ है।' सुनता है कौन? पुकार बढ़ी। इधर पैर भी बढ़ते गए—ठीक सीधमें ही। अंधेका एक पैरमें कुएँमें पड़ गया। उधर झुँझलाहट-भरी आवाजमें किसीने हाथ पकड़कर झटकेसे उसे एक ओर हटा दिया—"'तेरे आँख नहीं तो कान भी नहीं हैं?"

जीवनका यह दूसरा परिवर्तन-प्रहर आ पहुँचा। हाथके स्पर्श मात्रसे ही उसका सारा बाह्याभ्यन्तर शीतल हो गया। 'मनहुँ रंक निधि लूटन लागे।' उसने बड़ी व्यग्रतासे अपने उद्धार कर्त्ताकी भुजा पकड़ ली—'कितना तड़पानेके बाद मिले, प्यारे!'

कृतघ्न अन्धेको भला-बुरा कह उस गोपालने कठिनतासे अपना हाथ छुड़ा लिया और कोसते हुए अपनी गायोंकी ओर दौड़ा ।

गाँठसे मणि गिर गई। हाथमें आई चिड़िया उड़ गई। रोष, क्षोभ, ग्लानि, प्रेम नैराश्य आदि हृदयकी आँचमें गलकर दृढ़तर भक्तिमें परिणत होगए और वह सूर खीझकर दर्पसे चिल्ला उठा—

"बाँह मरोड़े जात हौ, निबल जानिकै मोहि ।
मनसे जो तुम जाओगे, मर्द सराहौं तोहि ॥"

'हम भक्तनके, भक्त हमारे!'—वाले भगवानको लौटना पड़ा। जीवात्माके इस तादात्म्य भाव-पाशको तोड़कर वह भला भाग ही कैसे सकता था। इंधन कान्तिहीन सूखा जड़ काष्ठ थी। लेकिन आग लगते ही वह नीरस लकड़ी पहले धूमाच्छादित हो उठी फिर उसके अन्तर्जगतका एक धक्का—एक झोंका—उसको प्रकाशमय बना दिया। सूरदासपर विश्व-बान्धवका वरद हस्त आ पड़ा। अनुताप-मिश्रित आनन्दके प्रचंड आवेगमें आकुल होकर, अनन्त युगसे बिछुड़ी आत्मा, कातर क्रन्दन-ध्वनिसे चीखकर प्रियतम परमात्मासे लिपट गई—

"प्रभु, मेरे अवगुन चित न धरो!"

वह महादानी अपने प्रिय-पात्रको बहुत कुछ देना चाहता था। उसने आग्रह भी किया—कम-से-कम नेत्र तो ले लो। भला जिन नेत्रोंसे उसने प्रेमका यह अनन्त सौन्दर्य-सागर देखा है, उनको त्यागकर वह चर्म-चक्षु क्योंकर स्वीकार करता—

और फिर उन्हीं दुष्टोंको जिनने उसको इतना सताया था? उसने अचल होकर कहा—अगर देते ही हो, तो तुम्हारा यह अनन्त सौन्दर्य मेरे अन्तरतममें अनन्तरूपेण निरन्तर लहराता रहे! 'हाँ' करनेके सिवा उस दानीके पास और चारा ही क्या था?

गऊघाटपर आचार्य वल्लभसे सूरदासका साक्षत्कार हुआ। जौहरीने रत्नको पहचाना। सूरदास आचार्यके चरण-शरणापन्न हुए। उन्हींके आदेशसे, श्रीमद्भागवतके आधारपर, व्रजभाषामें 'सूरसागर' की रचना हुई। अन्धेके अगाध हृदय-सागरमें कृष्णके माधुर्य-मुग्ध हास-विलासकी उन्नत ऊर्म्मियाँ उठती रहती थीं। उस सार्वभौम प्रेमालम्बनके सामने वह उत्फुल्ल फिरा करता था। वह प्रेम-माधुरीमें छका था। उसका प्रेम-लोक निराला था। उसके परम प्रेमीके सामने प्रेमोन्मत्त गोपांगनाएँ इठलाती फिरती थीं, कभी संयोग शृंगाराधिक्यमें रसोन्मत्त रास लीला करती थीं, कभी वियोग-वह्निमें जलतीं उद्धवको प्रीतिकी रीति सिखाती थीं। उसके प्रेम-राज्यकी सीमा गोकुलतक ही परिमित थी। लेकिन उस परिमित परिधिमें ही सूरदासने जैसी विशाल सृष्टि रची है, देखते ही बनता है।

'सूरसागर' में, प्रचलित अनुश्रुतिके अनुसार, एक लाख पच्चीस हजार पद हैं। लेकिन अभी तक छः हजार पद ही मिल सके हैं। खोज हो रही है। जिस दिन पूरे पद प्राप्त हो जाएँगे, उस दिन हिन्दी-साहित्य कैसा चमक उठेगा! सूरसागर गीतों का भंडार है। एक-एक विषयपर हजारों पद कहे गये हैं। विषय वही, लेकिन भावोंमें नित-नूतनता अभिनव व्यंजनासे नर्त्तन करती है।

'सूर-सारावली,' और 'साहित्य-लहरी' भी सूरदासके नामपर मिलती हैं। ये दोनों ग्रन्थ 'सूरसागर' से ही संकलित किये गये हैं।

आचार्य वल्लभके उत्तराधिकारी पुत्र गुसाईं विट्ठलनाथजीने 'पुष्टिमार्गीय' आठ कवियोंमें सूरदासको ही सर्वोत्तम पद दिया। इसीसे यह 'अष्टछाप' के कवियोंमें अग्रगण्य हैं।

पारासोली-गाँवमें, गुसाईं विट्ठलनाथजीके सामने, ८० र्षकी परमायु भोगकर, सं. १६२० वि. में सूरदासजी गो-लोक-वासी हुए। उस समय उनके मुखसे—'चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहँ नहीं प्रेम-वियोग'—निकला था।

"सूर सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ-तहँ करहिं॥"

यह पद हिन्दी-संसारमें बहुत प्रसिद्ध है।

*

सूर-सौरभ ।

(१)

चरन-कमल बंदौं हरि-राई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई ॥

बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तेहि पाई ॥

(२)

छाँड़ि मन, हरि-विमुखन कौ संग ।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग ॥

कहा होत पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
कागहिं कहा कपूर चुगायो, स्वान न्हवाये गंग ॥

खरको कहा अरगजा लेपन, मर्कट भूषन अंग ।
गजको कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग ॥

पाहन पतित बान नहिं बेधत रीतौ करत निषंग ।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़त न दूजौ रंग ॥

(३)

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल ।
काम-क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल ॥

महा मोहके नूपुर बाजत, निंदा सब्द रसाल ।
भरम भर्यो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल ॥

तृस्ना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल ।
माया कौ कटि फेंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दै भाल ॥

कोटिक कला काछि देखराई, जल थल सुधि नहिं काल ।
सूरदास की सबै अविद्या, दूरि करौ नँदलाल ॥

(४)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै ?
जैसे उड़ि जहाजकौ पंछी, फिरि जहाजपै आवै ॥

कमल-नयन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै ।
परम गंग कौं छाँड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै ॥

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील फल खावै ।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥

(५)

अपुनपौ आपुन ही बिसर्‍यो ।
जैसे स्वान काँच-मंदिर में भ्रमि भ्रमि भूमि मर्‍यो ॥

हरि-सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम तृन सूँघि मर्‍यो ।
ज्यों सपने में रंक भूप भयो तसकर अरि पकर्‍यो ॥

ज्यों केहरि प्रतिबिंब देखि कै आपुन कूप पर्‍यो ।
ऐसे गज लखि फटिक सिला में दसननि जाइ अर्‍यो ॥

मरकट मूठि छाँडि नहिं दीनी, घर घर द्वार फिर्‍यो ।
सूरदास नलिनी की सुबटा कहि कौने जकर्‍यो ॥

(६)

चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं ।
जिहिं सरोवर कमल कमला, रबि बिना बिकसाहिं ॥

हंस उज्जवल पंख निर्मल, अंग मलि मलि न्हाहिं ।
मुक्ति मुक्ता अंबुके फल, तिन्हैं चुनि चुनि खाहि ॥

अतिहि मगन महा मधुर रस, रसन मध्य समाहिं ।
पद्म-वास सुगंध सीतल, लेत पाप नसाहिं ॥

सदा प्रफुलित रहैं जल बिनु, निमिष नहिं कुम्हिलाहिं ।
देखि नीर जो छिलछिलो अति, समुझि कछु मन माहिं ॥

सघन गुंजत बैठि उनपर भौंर हैं बिरमाहि ।
सूर क्यों नहिं चलो उड़ि तहँ, बहुरि उड़ियो नाहि ॥

(७)

प्रभु, मेरे अवगुन चित न धरो ।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो, अपने पनहि करो ॥

इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो ।
यह दुबिधा पारस नहिं जानत, कंचन करत खरो ॥

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो ।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए, सुरसरि नाम परो ॥

एक जीव इक ब्रह्म कहावत, सूरस्याम सगरो ।
अबकी बेर मोहि पार उतारो, नहिं पन जात टरो ॥

(८)

हम भक्तन के, भक्त हमारे ।
सुन अर्जुन परतिग्या मेरी, यह ब्रत टरत न टारो ॥

भक्तै काज लाज हिय धरिकै, पाइँ-पयादे धाऊँ ।
जहँ-जहँ भीर परै भक्तन पै, तहँ-तहँ जाइ छुड़ाऊँ ॥

जो मम भक्त सो बैर करत है, सो निज बैरी मेरो ।
देखि विचारि भक्त-हित कारन, हाँकत हौं रथ तेरो ॥

जीते जीत भक्त अपने की, हारे हारि बिचारौं ।
सूरदास सुनि भक्त-विरोधी, चक्र-सुदर्शन धारौं ॥

(९)

मैया मेरी, मैं नहिं माखन खायो ।
भोर भयो गैयनके पीछे, मधुवन मोहि पठायो ॥

चार पहर बंसीबट भटक्यौ, साँझ परे घर आयो ।
मैं बालक बहिंयन को छोटौ, छींको केहि विधि पायो ॥

ग्वाल-बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ।
तू जननी मनकी अति भोरी, इनके कहे पतियायो ॥

जिय तेरे कछु भेद उपजि है, जानि परायो जायो ।
यह ले अपनी लकुट कमरिया, बहुत हि नाच नचायो ॥
सूरदास तब बिहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायो ॥

(१०)

मैया, कब बढ़ि है मेरी चोटी ।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई, यह अजहूँ है छोटी ॥

तू जो कहति बलकी बेनी ज्यों, ह्वै है लाँबी मोटी ।
काढ़त गुहत न्हवावत पोंछत, नागिनि सी भ्वै लोटी ॥

काचो दूध पिवावत पचि पचि, देति न माखन रोटी ।
सूर स्याम चिरजीवो दोउ भैया, हरि-हलधरकी जोटी ॥

(११)

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसो कहत मोलको लीनों, तू जसुमति कब जायो ॥

कहा कहौं यहि रिसके मारे, खेलन हौं नहिं जातु ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु ॥

गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर ।
चुटुकी दैदै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥

तू मोहीको मारन सीखी, दाउहि कबहुँ न खीझै ।
मोहनको मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै ॥

सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत हीको धूत ।
सूरस्याम मो गोधनकी सौं, 'हौं माता, तू पूत' ॥

(१२)

देखि री! हरिके चंचल नैन ।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन ॥

राजिवदल इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै विगसत, ये विगसे दिन राति ॥

अरुन असित सित झलक पलक प्रति, को बरनै उपमाय ।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि, आगम कीन्हों आय ॥

(१३)

खेलतमें को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हमतें कछु नाहीं, न बसत तुम्हारी छैयाँ ॥
अति अधिकार जनावत यातें, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ।
करि ल्यो नारी, हरि, आपनि गैयाँ ।
नहिन बसात लाल कछु तुमसों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ ॥

(१४)

नैना भये अनाथ हमारे ।
मदन गोपाल वहाँते सजनी, सुनियत दूरि सिधारे ॥
वै हरि जल हम मीन बापुरी, कैसे जिवहिं निनारे ।
हम चातक चकोर स्याम घन, बदन सुधा नित प्यारे ॥
मधुवन बसत आस दरसन की, जोई नैन मग हारे ।
सूरस्याम करी पिय ऐसी, मृतकहु ते पुनि मारे ॥

(१५)

मेरे नैना बिरह की बेलि बई ।
सींचत नैन-नीर के सजनी ! मूल पतार गई ॥
बिगसति लता सुभाय आपने, छाया सघन भई ।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई ॥

(१६)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै प्रान दह्यौ ॥

अलिसुत प्रीति करी जलसुत सौं, संपति हाथ गह्यौ ।
सारंग प्रीति करी जो नाद सौं सनमुख बान सह्यौ ॥

हम जो प्रीति करी माधौ सौं, चलत न कछू कह्यौ ।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनौं, नैननि नीर बह्यौ ॥

(१७)

ऊधो, हम आजु भईं बड़ भागी ।
जिन अँखियन तुम स्याम बिलोके, ते अँखियाँ हम लागी ॥

जैसे सुमन बास लै आवत, पवन मधुप अनुरागी ।
अति आनंद होत है तैसे, अंग अंग सुख रागी ॥

ज्यों दरपन में दरसन देखत, दृष्टि परम रुचि लागी ।
तैसे सूर मिले हरि हम को, बिरह व्यथा तनु त्यागी ॥

(१८)

बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं ।
तब वे लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं ॥

बृथा बहति जमुना, खग बोलत, बृथा कमल फूलैं, अलि गुंजैं ।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं ॥

ये ऊधो, कहियो माधव सों, बिरह करद कर मारत लुंजैं ।
सूरदास प्रभु को मग जोवत, अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं ॥

(१९)

बिछुरत श्री ब्रजराज आज, सखि, नैनन की परतीति गई ।
उड़ि न मिले हरि संग बिहंगम, ह्वै न गये घनश्याम मई ॥

याते क्रूर कुटिल सह मेचक, बृथा मीन छबि छीन लई ।
रूप-रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई ॥

अब काहे सोचत जल मोचत, समय गई नित सूल नई ।
सूरदास याही तें जड़ भये, जबतें पलकन दगा दई ।

(२०)

मधुकर, इतनी कहियहु जाइ ।
अति कृस गात भई ए तुम बिनु, परम दुखारी गाइ ॥

जल समूह बरसति दोउ आँखनि, हूँकति लीने नाउँ ।
जहाँ जहाँ गो-दोहन कीन्हों, सूँघति सोई ठाउँ ॥

परति पछार खाइ छिनही छिन, अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहुँ सूर काढ़ि डारी हैं, वारि मध्यते मीन ॥

(२१)

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥

सुनि है कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत ।
सगुन-समेरु प्रगट देखियत, तुम तृनकी ओट दुरावत ॥

रेख न रूप, बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत ।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को, तुम कबहुँ हौ पावत?

मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन-बन चारत ।
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि, देख्यो कबहुँ निहारत?

तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीताम्बर तेहि सोहत ।
सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत?

(२२)

खंजन-नैन रूप-रस माते ।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल-पिंजरा न समाते ॥

चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटंक फँदाते ।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातरु अब उड़ि जाते ॥

(२३)

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग ।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ, वह सागर सुख जोग ॥

जहँ सनक से मीन, हंस सिव, मुनि नख-रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससिडर, गुंजत निगम सुवास ।।

जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत अमृत-रस पीजै ।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ।।

लछमी सहित होत नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास ।
अब न सुहात विषय रस छीलर, वा समुद्र की आस ।।

तुलसीदास

तुलसीदासजीका जन्म संवत् १५५४ वि. में हुआ। इनके पिताका नाम आत्माराम दूबे और माताका हुलसी था। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। राजापुर इनका जन्मस्थान था।

" मातु-पिता जग जाइ तज्यो, बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाही "

" जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरो "

तथा

" तनु-जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू। "—

ये तुलसीदासके शब्द हैं। उपर्युक्त पदोंसे लोकमें प्रसिद्ध होगया है, कि तुलसीदासका जन्म अभुक्त मूलमें हुआ था। पंडितों और ज्योतिषियोंकी व्यवस्थानुसार माता - पिताने उनका त्याग कर दिया। गोस्वामी जीके एक जीवनी-लेखकने लिखा है, कि गोस्वामी जी जब उत्पन्न हुए, तब पाँच वर्षके बालकके समान थे, और उन्हें पूरे दाँत थे। वे रोए नहीं, केवल ' राम ' शब्द उनके मुँहसे सुनाई पड़ा। बालकको राक्षस समझकर पिताने उसकी उपेक्षा की। पर माताने उसकी रक्षाके लिए उद्विग्न होकर उसे अपनी एक दासी मुनियाको पालने - पोसनेको दिया और वह उसे लेकर अपनी ससुराल चली गई। पाँच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मरगई, तब राजापुरमें बालकके पिताके

पास संवाद भेजा गया, पर उन्होंने वालक लेना स्वीकार नहीं किया। किसी प्रकार बालकका निर्वाह कुछ दिन हुआ। अंतमें बाबा नरहरिदासने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं गुरुसे गोस्वामीजी राम-कथा सुना करते थे। इन्हींके साथ ये काशीमें आकर पंचगंगा घाटपर स्वामी रामानन्दजीके स्थानपर रहने लगे। वहांपर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे, जिन्होंने तुलसीदासजी-को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहासपुराण आदिमें प्रवीण कर दिया। १५ वर्षतक अध्ययन करके तुलसीदासजी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुरको लौटे, पर वहाँ इनके परिवारमें कोई नहीं रहगया था।

जमुना पारके एक ब्राह्मण यमद्वितीयाको राजापुरमें स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासकी विद्या, विनय और शीलपर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हें ब्याह दी। इसी पत्नीके उपदेशासे तुलसीदासजीका विरक्त होना और भक्तिकी सिद्धि प्राप्त करना लोकमें प्रसिद्ध है। यह अपनी पत्नीपर इतने अनुरक्त थे, कि एक वार उसके मायके चले जानेपर, वे बढ़ी नदी पारकरके वहाँ चले गए। सहज लज्जासे अनुतप्त होकर स्त्रीने उन्हें फटकारा:—

" लाज न लागत आपको, दौरे आएहु साथ।
धिक्धिक ऐसे प्रेमको, कहा कहौं मैं नाथ॥"

" अस्थि-चर्म-मय देह मम, तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव-भीति॥"

यह बात उनको ऐसी लगी, कि वे उलटे-पैर काशी चले आए और वहाँ विरक्त होगए। हनुमानजीकी सहायतासे इन-को राम चन्द्रका दर्शन भी हुआ।

संवत १५९० वि. में तुलसीदासने अपना घर छोड़ा और काशीसे अयोध्या जाकर चार महीने रहे। फिर तीर्थ-यात्रा करने निकले। जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम पहुँचे। वहाँसे ये कैलास और मान-सरोवरतक निकल गए। इस लंबी यात्रामें १९ वर्षसे ऊपर लगे। अंतमें चित्रकूट आकर बहुत दिनोंतक रहे जहाँ अनेक संतोंसे इनकी भेंट हुई। संवत १६१६ वि. में सूरदासजी भी इनसे मिलने यहीं आए थे और यहींपर इन्होंने गीतावली रामायण और कृष्णगीतावली लिखी। इसके अनन्तर सं. १६३१ में अयोध्या जाकर रामचरितमानसका आरंभ किया। २ वर्ष ७ महीनेमें वह समाप्त हुआ। रामायण-का कुछ अंश काशीमें रचा गया — विशेषतः किष्किधा कांड। रामायणके समाप्त हो जानेपर गोस्वामीजी विशेषकर काशीमें ही रहने लगे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान आकर इनसे मिला करते थे। तुलसीदासजी अपने समयके सबसे बड़े भक्त और महात्मा थे। प्रसिद्ध विद्वान मधूसूदन सरस्वतीने उनकी प्रशंसामें यह श्लोक कहा था —

" आनन्द-कानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कवितामञ्जरी यस्य राम-भ्रमरभूषिता ॥ "

(आनन्द-कानन में 'तुलसी' कोई जंगम तरु है, जिसकी कविता-मंजरी राम-भ्रमर भूपित है।)

मधुसूदन सरस्वतीके अलावा नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, नाभाजी आदि इनके स्नेहियोंमें थे। काशीमें इनके सबसे बड़े मित्र भदैनीके एक भूमिहार ब्राह्मण जमींदार टोडर थे। उनकी मृत्युपर गोस्वामीजीने कई दोहे कहे :—

"चार गाँव को ठाकुरो, मनको महा महीप ।
तुलसी या कलिकालमें, अथए टोडर भूप ॥
तुलसी राम सनेहको, सिरपर भारी भारु ।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे उतारु ॥
राम-धाम टोडर गए, तुलसी भए असोच ।
जियबो मीत पुनीत बिनु, यहै जानि संकोच ॥"

तुलसीदासजी 'प्राकृत-नर-गुण-गान' के विरोधी थे ।

"कीन्हें प्राकृत-जन-गुन गाना ।
सिरधुनि गिरा लागि पछिताना ॥"

—कहनेवालेके भी मुखसे भी टोडर ऐसे मित्रकी मृत्युपर कविता निकल आई । मित्रके परम प्रेममें डूब जानेसे शायद उन्हें अपने सिद्धान्तकी याद नहीं रही । कैसे भाग्यशाली थे वह टोडर जिसके लिए राम-मय तुलसीदासजी स्नेह-कातर हो उठे ।

"संवत सोरह सै असी, असी-गंगके तीर ।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर ॥"

इस लोक-प्रसिद्ध दोहेके अनुसार संवत १६८० में गोस्वामी तुलसीदासजी, १२७ वर्षकी परमायु भोगकर, साकेत सिधारे । प्रयाण-काल आजानेपर उस महात्माने यह दोहा कहा :—

"राम-नाम-जस बरनि कै, भयौ चहत अब मौन ।
तुलसीके मुख दीजिए, अबहीं तुलसी सोन ॥"

राम-नामकी अमोघ महिमापर तुलसीदासका हिमालय-सा अटल विश्वासथा। जिसने श्रद्धा-पूर्वक एक वार भी राम-नाम लिया, वह पावन हो गया, ऐसा उस महात्माका सिद्धान्त था। इसीसे एक ब्रह्म-घातीके मुखसे 'राम' कहलाकर, उसको शुद्ध मानकर, उसके साथ भोजनकर लिया था। काशीके धर्माचार्योंने इसपर बड़ा हो-हल्ला मचाया, लेकिन गोस्वामीजी अटल रहे। कहा जाता है, कि प्रमाण-स्वरूप काशी विश्वनाथके नन्दीकी पाषाण-प्रतिमाने भी उसके हाथका अन्न खाकर तुलसीदासके सिद्धान्तको सत्य ठहरा दिया था।

'राम' के अनन्य भक्त होते हुए भी तुलसीदासजी हिन्दू-धर्मके सब देवी-देवतोंपर समश्रद्धा रखते थे। सबोंकी प्रार्थना करते थे और अपने लिए राम-भक्तिकी दृढ़ता माँगते थे। 'शिव' के लिए तो उनके हृदयमें अगाध भक्ति थी। तुलसीदासके इष्टदेव श्रीरामचन्द्रजी स्वयं कहते हैं:—

"शिव-द्रोही मम दास कहावै, सो नर सपनेहु मोहि न भावै।
शंकर-बिमुख भक्ति चह मोरी, सो नर मूढ मंदमति थोरी॥"

ऐसा था सामंजस्य उनकी अनन्यतामें। वे सच्चे साधु थे। जहाँ-तहाँ अपनी रचनाओंमें साधुकी जो व्याख्या उन्होंने की है, उसकी वे प्रतिमूर्ति थे। मनके ऊपर विजय, सम-दृष्टि, कामिनी-कांचनका त्याग, आमरण परोपकार, विनय-शीलता, सत्य-निष्ठा, अनन्य भक्ति — उनके जीवनमें कूट-कूटकर भरी थी।

तुलसीदासजी सुधारक होनेकी डींग नहीं हाँकते थे। वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रके भक्त थे। इसीसे, आदर्श नर

होना ही उनका ध्येय था। उसी आदर्शको वे 'संत' नामसे पुकारते थे। सामाजिक, धार्मिक, साम्प्रदायिक, तथा राजनीतिक—किसी भी अनाचारको वे 'अधर्म' नाम देते थे, और हर तरहके ढोंगकी खरी आलोचना करते थे। उनको उपदेश देनेका रोग नहीं था। देश और धर्मकी दुर्दशा देखकर उनका नवनीत-सा कोमल हृदय पिघल गया, और वे अपनी आत्माको शान्ति देनेके लिए लेखनी लेकर बैठ गए। रोगीको सिर्फ फटकारने से क्या लाभ होता? उसकी बीमारीको पहचानकर उन्होंने 'राम-बाण' दवा तैयार की। भूले-भटकेको राहपर लानेके लिए दशरथ-नन्दन 'श्रीराम' को उन्होंने 'गाइड' बनाया और उसको आदर्श भाई, आदर्श प्रेमी, आदर्श पुत्र, आदर्श मित्र, आदर्श वीर तथा आदर्श राजाके रूपमें हमारे सामने रखा।

सरल, शान्त, गंभीर और नम्र होनेपर भी तुलसीदास बड़े निर्भीक थे। जहाँगीर बादशाह उनका कुछ चमत्कार देखना चाहता था। उसने जोर डाला, धमकाया, कैदमें डाल दिया। हर हालतमें उस भक्तने कहा — 'राम-नाम' के सिवा मैं कुछ नहीं जानता।' आखिर जहाँगीरकी आँखें खुलीं, और वह उनका भक्त होगया।

ऊँचे दर्जेके भक्त होनेपर भी उनकी भक्ति-धारामें शृंगारकी झलक नहीं आने पाई — विलसिताकी लहरें न उठ सकीं। धर्म और सदाचारके विपरीत ऊँचे-से-ऊँचे भावको भी वे 'भक्ति' नहीं मानते थे। उनके इष्टदेव भी तो थे आदर्श सदाचारी।

तुलसीदासमें अभिमान तो छू भी नहीं गया था। नीच-से-नीच आदमीसे भी वे दिल खोलकर मिलते थे और अपनी

मधुर वाणीसे, सरल जीवनसे, सच्ची भक्तिसे सबको वशमें कर लेते थे। अपने देश-भ्रमणमें कितने ही दुष्कर्मियोंको अपने प्रभावसे उन्होंने सत्कर्मी बना दिया जिनके प्रमाण आज भी देहातोंमें बहुतायतसे पाये जाते हैं।

इतने ग्रन्थ गोस्वामीजीने रचे :—

१ — रामचरितमानस, २ — कवितावली, ३ — दोहावली, ४ — गीतावली, ५ — कृष्णगीतावली, ६ — विनयपत्रिका, ७ — रामाज्ञा, ८ — बरवैरामायण, ९ — राम, लला नहछू, १० — वैराग्य संदीपनी, ११ — पार्वती मंगल-१२ — रामसतसई, १३ — हनुमद बाहुक, १४ — जानकी मंगल।

तुलसी-तरंग

(विनय-पत्रिका)

(१)

गाइये गणपति जगवन्दन । संकर-सुवन भवानी-नन्दन ॥ १ ॥
सिद्धि-सदन गज-वदन विनायक । कृपा-सिंधु सुन्दर सब लायक ॥ २ ॥
मोदक-प्रिय मुद-मंगल-दाता । विद्या-वारिधि बुद्धि-विधाता ॥ ३ ॥
माँगत तुलसीदास कर-जोरे । बसहिं राम-सिय मानस मोरे ॥ ४ ॥

(२)

ऐसी मूढ़ता या मन की ।
परिहरि रामभक्ति-सुरसरिता, आस करत ओसकन की ॥ १ ॥

धूम-समूह निरखि चातक ज्यौं, तृषित जानि मति घन की ।
नहिं तहँ सीतलता, न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥ २ ॥

ज्यों गच काँच विलोकि सेन जड़, छाँह आपने तन की ।
टूटत अति आतुर अहारबस, छति बिसारि आनन की ॥ ३ ॥

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि, जानत हौ गाति जन की ।
तुलसीदास प्रभु ! हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥ ४ ॥

(३)

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥ १ ॥

पायो नाम चारु चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं ।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी, चित-कंचन हि कसैहौं ॥ २ ॥

परबस जानि हँस्यौ इन इन्द्रिन, निजवस ह्वै न हँसैहौं ।
मन मधुपहि प्रन करि, तुलसी, रघुपति-पद कमल बसैहौं ॥ ३ ॥

(४)

केसव, कहि न जाइ का कहिये ।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये ॥ १ ॥

सून भीतिपर चित्र रंग नहिं, तनु विनु लिखा चितेरे ।
धोये मिटै न मरे भीति-दुख, पाइय यहि तन हेरे ॥ २ ॥

रविकर-नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं ।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥ ३ ॥

कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि माने ।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम, सो आपन पहिचाने ॥ ४ ॥

(५)

माधव, मोह-पास क्यों टूटै ?
बाहर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै ॥ १ ॥

घृत-पूरन कराह अंतरगत, ससि प्रतिबिंब दिखावै ।
ईंधन अनल लगाइ कल्पसत, औंटत नास न पावै ॥ २ ॥

तरु-कोटर महँ बस विहंग, तरु काटे मरै न जैसे ।
साधन करिय विचार-हीन, मन शुद्ध होइ नहिं तैसे ॥ ३ ॥

अंतर मलिन, विषय मन अति, तन पावन करिय पखारे ।
मरइ न उरग अनेक जतन, बलमीकि विविध विधि मारे ॥ ४ ॥

तुलसीदास, हरि गुरु करुना विनु, बिमल विवेक न होई ।
विनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई ॥ ५ ॥

(६)

जानत प्रीति-रीति रघुराई ।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई ॥ १ ॥

नेह निबाहि, देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई ।
ऐसेहुँ पितु ते अधिक गीधपर, ममता गुन गरुआई ॥ २ ॥

तिय-विरही सुग्रीव सखा लखि, प्रान-प्रिया बिसराई ।
रन पर्‍यो बंधु विभीषन ही को, सोच हृदय अधिकाई ॥ ३ ॥

घर, गुरु-गृह, प्रियसदन, सासुरे, भई जब जहँ पहुनाई ।
तब तहँकहिं सबरीके फलन की, रुचि माधुरी न पाई ॥ ४ ॥

सहज सरूप कथा मुनि बरनत, रहत सकुचि सिरनाई ।
केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बंधु बड़ाई ॥ ५ ॥

तुलसी राम सनेह सील लखि, जो न भगति उर आई ।
तौं तोहिं जनमि जाय जननी जड़, तनु-तरुनता गँवाई ॥ ६ ॥

(७)

कबहुँक हौं येहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें, संत-सुभाव गहौंगो ॥ १ ॥

जथा-लाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
पर-हित निरत निरंतर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ॥ २ ॥

परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, परगुन, अवगुन न कहौंगो ॥ ३ ॥

परिहरि देह-जनित चिंता, दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भक्ति लहौंगो ॥ ४ ॥

(८)

जाके प्रिय न राम-बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥ १ ॥

तज्यो पिता प्रहलाद, विभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद-मंगल-कारी ॥ २ ॥

नाते नेह रामके मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लों ।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लों ॥ ३ ॥

तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रानते प्यारो ।
जासों होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो ॥ ४ ॥

(९)

कौन जतन विनती करिये ।
निज आचरन विचारि, हारि हिय मानि जानि डरिये ॥ १ ॥

जेहि साधन हरि द्रवहु जानि जन, सो हठि परिहरिये ।
जाते विपति-जाल निसि-दिन दुख, तेहि पथ अनुसरिये ॥ २ ॥

जानत हूँ, मन वचन करम, परहित कीन्हें तरिये ।
सो विपरीत, देखि पर-सुख, विनु कारन हीं जरिये ॥ ३ ॥

स्रुति पुरान सब को मत यह, सतसंग सुदृढ़ धरिये ।
निज अभिमान-मोह-इरषा-वस, तिन्हहिं न आदरिये ॥ ४ ॥

संतत सोइ प्रिय मोहिं सदा, जाते भव-निधि परिये ।
कहो नाथ, अब कौन बलते, संसार-सोग हरिये ॥ ५ ॥

जब कब निज करुना सुभाउ ते, द्रवहु तो निस्तरिये ।
तुलसिदास विश्वास आन नहिं, कत पचि पचि मरिये ॥६॥

(१०)

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्रीर घुवीर दीन-हितकारी ॥

मम हृदै - भवन प्रभु तोरा। तहँ आइ बसे बहु चोरा ॥

अति कठिन करहिं बर-जोरा। मानहि नहिं विनय निहोरा ॥

तम, मोह, लोभ, अहँकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु, मारा ॥

अति करहि उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहिं जानि अनाथा ॥

मैं एक अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा ॥

भागेउ नहिं नाथ उबारा। रघुनायक! करहु सँभारा ॥

कह तुलसिदास सुनु रामा। लूटहिं तस्कर तव धामा ॥

चिन्ता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा ॥

(११)

रघुवर! तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मैं सरन तिहारी, तुम बड़े गरीब निवाज ॥

पतित-उधारन बिरुद तिहारो, स्रवनन सुनी अवाज।
हौं तो पतित पुरातन कहिये, पार उतारो जहाज ॥

अघ-खंडन, दुख-भंजन जनके, यही तिहारो काज।
तुलसिदास पर किरपा करिये, भक्ति-दान देहु आज ॥

(१२)

(कवितावली)

अवधेसके द्वारे सकारे गई, सुत गोदकै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच-विमोचनको, ठगिसी रही, जे न ठगे धिकसे ॥
'तुलसी' मनरंजन, रंजित अंजन, नैन सु-खंजन-जातक से ।
सजनी ससि में समसील उभै, नवनील सरोरुह से विकसे ॥ १ ॥

(१३)

बरदंतकी पंगति कुंदकली, अधराधर-पल्लव खोलन की ।
चपला चमकै घन बीच जगै, छबि मोतिन माल अमोलन की ॥
घुंघुरारि लटैं लटकैं मुख ऊपर, कुंडल लोल कपोलन की ।
निवछावरि प्रान करै तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की ॥ ५ ॥

(१४)

पुरतें निकसी रघुबीर-बधू, धरि धीर दये मगमें डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जलकी, पट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक', पर्ण-कुटी करिहौ कित ह्वै? ।
तियकी लखि आतुरता पियकी, अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥

(१५)

जलको गए लक्खन हैं लरिका, परिखौ पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े ।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पाँय पखारिहौं भूभुरि डाढ़े ॥
तुलसी रघुबीर प्रिया-स्रम जानिकै, बैठि बिलव लौं कंटक काढ़े ।
जानकी नाहको नेह लख्यौ, पुलकौ तनु, बारि बिलोचन बाढ़े ॥

(१६)

सीस जटा, उर बाहु बिसाल, बिलोचन लाल, तिरीछीसी भौंहैं ।
तून सरासन बान धरे, तुलसी बन-मारगमें सुठि सौहैं ॥
सादर बारहिं बार सुभाय चितै, तुम त्यों हमरो मन मोहैं ।
पूछति ग्राम-बधू सियसों "कहौ साँवरे से, सखि, रावरे को हैं?"

(१७)

सुनि सुंदर बैन सुधारस-साने, सयानी हैं जानकी जानी भली ।
तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्हैं, समुझाइ कछू मुसुकाइ चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै, अबलोकति लोचन-लाहु अली ।
अनुराग-तड़ाग में भानु उदै, विगसीं मनो मंजुल कंज-कली ॥

(१८)

रानी मैं जानी अजानी महा, पबि पाहनहू ते कठोर हियो है ।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तियो को जिन कान कियो है॥

ऐसी मनोहर मूरति ये बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो हैं?
आँखिन में, सखि, राखिबे जोग, इन्हें किमिकै बन वास दियो है?

(१९)

बिंध्यके बासी उदासी तपोब्रतधारी महा, बिनु नारिदुखारे।
गौतम-तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि, भे मुनि-वृंद सुखारे॥

ह्वैहैं सिला सब चन्द्रमुखी, परसे पद-मंजुल-कंज तिहारे।
कीन्हीं भली, रघुनायकजू, करुना करि कानन को पगु धारे॥

(२०)

बसन बटोरि बोरि बोरि तेल तमीचर,
खोरि खोरि धाइ बाँधत लूँगूर हैं।

तैसो कपि कौतुकी डारत ढीलो गात कै कै,
लातके अघात सहै, जीमें कहै 'कूर हैं।'

बाल किलकारी कै कै तारी दै दै गारी देत,
पाछे लोग बाजत निसान ढोल तूर हैं।

बालधी बढ़न लागी, ठौर ठौर दीन्हीं आगि,
बिंधकी दवारी, कैधों कोटि सत सूर हैं॥

(२१)

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीयको न माय, बाप पूत न सँभारहीं ।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम धुंध अंध;
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बार हीं ।
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलिपेलि रौंदि खौंदि डारहीं ।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
तात तात! तौंसियत, झौंसियत झारहीं ॥

(२२)

लपट कराल ज्वाल जालमाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचाने कौन काहि रे?
पानीको ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल जात, भ्रात! तू निबाहि रे ।
प्रिया तू पराहि, नाथ नाथ! तू पराहि, बाप
बाप! तू पराहि, पूत पूत! तू पराहि रे ।
तुलसी बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे ॥

(राम सतसई)

राम-नाम मनि-दीप धरु, जीह देहरो द्वार ।
तुलसी भीतर बाहिरो, जो चाहसि उजियार ॥ २३ ॥

जड़-चतेन-गुन-दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस-गुन गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार ॥ २४ ॥

मंत्री-गुरु अरु वैद्य जो, प्रिय बोलहिं भय आस ।
राज धर्म तन तीन कर, होइ बेगिही नास ॥ २५ ॥

काम, क्रोध, मद, लोभ की, जौलौं मनमें खान ।
तौलौं पंडित मूरखौ, तुलसी एक समान ॥ २६ ॥

तुलसी संत-सुअंब तरु, फूलि फलहिं पर-हेत ।
इतते ये पाहन हनत, उतते वे फल देत ॥ २७ ॥

सूर समर करनी करहिं, कहि न जनावहिं आप ।
विद्यमान रिपु पाइ रन, कायर करहिं प्रलाप ॥ २८ ॥

मुखिया मुखसों चाहिए, खान-पानको एक ।
पालै पोसै सकल अँग, तुलसी सहित विवेक ॥ २९ ॥

तुलसी काया खेत है, मनसा भये किसान ।
पाप पुण्य दोउ बीज हैं, बुवै सो लुनै निदान ॥ ३० ॥

तुलसी 'रा' के कहत ही, निकसत पाप-पहार ।
फिरि भीतर आवत नहीं, देत मकार किवार ॥ ३१ ॥

ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर ।
कै जाँचै घनस्याम सों, कै दुख सहै सरीर ॥ ३२ ॥

होइ अधीन जाँचै नहिं, सीस नाइ नहिं लेइ ।
ऐसे मानी माँगनहि, को बारिद बिनु देइ ॥ ३३ ॥

मान राखिबो, माँगिबो, पियसों सहज सनेहु ।
तुलसी तीनों तब फबै, जब चातक मत लेहु ॥ ३४ ॥

गंगा, जमुना सरसुती, सात सिन्धु भर पूर ।
तुलसी चातक के मते, बिन स्वाती सब धूर ॥ ३५ ॥

एक भरोसो, एक बल, एक आस विस्वास ।
स्वाति-सलिल रघुनाथ-जस, चातक तुलसी दास ॥ ३६ ॥

ब्याधा बधो पपीहरा, परो गंग-जल जाय ।
चोंच मूँदि पीवै नहिं, जल पिये मो पन जाय ॥ ३७ ॥

बहुसुत, बहुरुचि, बहु बचन, बहु अचार व्यवहार ।
इनको भलो मनाइबो, यह अज्ञान अपार ॥ ३८ ॥

रहीम

रहीमका पूरा नाम था अब्दुर्रहीम खानखाना। ये अकबर बादशाहके अभिभावक प्रसिद्ध मोगल सरदार बैरमखाँ खानखानाके पुत्र थे। इनका जन्म सं. १६१० वि. में हुआ। अकबरके दरबारके नवरत्नोंमें यह एक प्रधान रत्न थे। प्रधान सेनापति और मंत्रीका पद भी इन्होंने सुशोभित किया था। अकबर बादशाह इनका बहुत सम्मान करते थे। ये संस्कृत, अरबी, फारसी तथा हिन्दीके पूर्ण मर्मज्ञ विद्वान थे। दानी और परोपकारी ऐसे थे कि 'कर्ण' कहे जाते थे। इनकी भक्ति और अनुरक्ति भगवान कृष्णमें अधिक थी। स्वभावसे सरल और दयालु थे। क्रोध कभी नहीं आता था। सालमें एक दिन अपना सर्वस्व दान कर देते थे। सं. १६८२ वि. में स्वर्ग सिधारे।

अकबरके दरबारमें ' गंग ' नामके एक प्रतिभाशाली कवि थे। उनपर रहीमका शुद्ध स्नेह था। एक दिन गंगने उन्हें यह कविता सुनाई :—

" चकित भँवर रहिगयो, गमन नहिं करत कमल-बन।
अहि फनि मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो, चक्क-चक्की न मिलैं अति।
बहु सुन्दरी पद्मिनी, पुरुष न चहैं, न करैं रति॥

खलभलित सेस कवि गंग भनि, अमित तेज रवि रथ खस्यो ।
खानानखान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तंग कस्यो ॥"

प्रसन्न होकर रहीमने गंगको ३६ लाखकी हुंडी उठाकर देदी। ऐसी थी विशाल इनकी गुण-ग्राहक उदारता।

गोस्वामी तुलसीदाससे भी स्नेह था। एक दिन एक ब्राह्मण तुलसीदाससे, कन्या-विवाहके लिए, कुछ सहायता माँगने आया। उन्होंने उस ब्राह्मणको एक पुर्जा देकर रहीमके पास भेज दिया। रहीमने पुर्जा देखा। उसमें अधूरा पद था:—

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय, यह चाहत सब कोय ।'

रहीमने पद-पूर्ति करके और बहुत-सा धन देकर उस ब्राह्मणको तुलसीदासके पास लौटा दिया। पूर्त्ति इस प्रकार थी:—

'गोद लिये हुलसी फिरैं, तुलसीसे सुत होय ॥'

रहीमका एक नौकर छुट्टी लेकर गौना कराने घर गया। जब कामपर आने लगा तो उसकी नवोढ़ा पत्नीने उसको बहुत रोका। लेकिन मालिकके डरसे वह रुक नहीं सका। उसकी स्त्री कवि-हृदय रखती थी। उसने एक पुर्जा लिखकर मालिकके पास भेजा। उसमें यह पद था:—

"प्रेम प्रीतिकी बिरवा, चल्यौ लगाय ।
सींचन की सुधि लीज्यौ, मुरझि न जाय ॥"

सारा रहस्य रहीमपर प्रकट होगया। नौकरको एक लम्बी छुट्टी तथा उसकी स्त्रीके लिए कुछ गहने-कपड़े देकर मालिकने घर भेज दिया। वह छन्द रहीमको इतना पसंद आया कि उन्होंने उसी छंदमें 'बरवै-नायिका' नामका एक कविता ग्रन्थ ही रच डाला। शृंगार-रसकी वह सुन्दर रचना है। ऐसी थी इनकी सहृदयता।

अकबरके मरनेपर जहाँगीरने राज-द्रोहके अपराधमें रहीमको कैदकर दिया। कैदमें कठोर कष्ट दिये गए। किसी प्रकार छुटकारा मिलनेपर बाहर आए तो सारी सम्पत्ति जब्त होगई। जो राजा था, फकीर होगया। चित्रकूट जाकर रहने लगे। किन्तु वहाँ भी याचकोंसे इनका पिंड नहीं छूटता था। आकुल होकर ये कह उठते थे—

" ये रहीम दरदर फिरैं, माँगि मधुकरी खाँहि।
यारो यारी छोड़ दो, वे रहीम अब नाहिं॥ "

फिर भी धृष्ठ लोग कब माननेवाले थे। एकने उन्हींका यह दोहा सुना दिया :—

" रहिमन दानि दरिद्रतर, तऊ जाँचिबे जोग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुआँ खनावत लोग॥ "

विवश होकर रीवाँ-नरेशके पास यह दोहा लिख भेजा :—

" चित्रकूट चित रमि रहे, रहिमन अवध नरेस।
जापर बिपता परति है, सो आवत यहि देस॥ "

दोहेपर मुग्ध होकर नरेशने एक लाख रुपया रहीमके पास भेज दिया। उदार दानीने सब रुपये उस याचकको भेट कर दिया। ऐसी थी इनकी परोपकारिता।

दरिद्रावस्थामें रहीम एक भुजवेके यहाँ भार झोंकने की नौकरी करने लगे। एक दिन रीवाँ-नरेशने उसी मार्गसे जाते इन्हें भार झोंकते देख लिया। हठात उनके मुखसे निकल पड़ा :—

" जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार अस। "

रहीमने तुरत उत्तर दिया :—

" रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भारमें ॥ "

रहीमने हिन्दीमें ये पुस्तकें रचीं :— रहीम सतसई, नरवै-नायिका भेद. रासपंचाध्यायी, श्रृंगारसोरठ, मदनाष्टक, खेट कोतुक जातकम्।

रहीम सतसई ।

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार ।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जिहि चितवत इक बार ॥ १ ॥

जो रहीम मन हाथ है, तो तन कहुँ किन जाहिं ।
जलमें जो छाया परे, काया भीजति नाहिं ॥ २ ॥

अमर बेलि बिन मूल की, प्रतिपालत है ताहि ।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि, खोजत फिरिये काहि ॥ ३ ॥

हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर ।
खैंचि आपनी ओर को, डार दियो पुनि दूर ॥ ४ ॥

सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिं ।
दीन मीन विन पच्छके, कहु रहीम कहँ जाहिं ॥ ५ ॥

कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर को संग ।
बे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥ ६ ॥

खीराको मुँह काटिके, मलियत लोन लगाय ।
रहिमन करुये मुखनकी, चहिये यही सजाय ॥ ७ ॥

नैन सलोने अधर मधु, कहु रहीम घटि कौन ।
मीठो भावै लोन पर, अरु मीठे पर लौन ॥ ८ ॥

कमला थिर न रहिम कहि, यह जानत सब कोय ।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय ॥ ९ ॥

रहिमन कहत सुपेट सों, क्यों न भयो तू पीठ ।
रीते अनरीते करत, भरे बिगारत डीठ ॥ १० ॥

जो गरीब सों हित करैं, धनि रहिम वे लोग ।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥ ११ ॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।
चन्दन बिष ब्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग ॥ १२ ॥

प्रीतम-छवि नैनन बसी, पर-छबि कहाँ समाय ।
भरी सराय रहीम लखि, आप पथिक फिरि जाय ॥ १३ ॥

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत प्यासो जाय ॥ १४ ॥

नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत ।
ते रहीम पशुते अधिक, रीझे कछू न देत ॥ १५ ॥

रहिमन अँसुवा नयन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ ।
जाहि निकारो गेहते, कस न भेद कहि देइ ॥ १६ ॥

रहिमन निज मन की व्यथा, मनहीं राखौ गोय ।
सुनि इठलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥ १७ ॥

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ माँगन जाहिं ।
उनतें पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं ॥ १८ ॥

रहिमन पानी राखिये, बिन पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरै, मोती मानुस चून ॥ १९ ॥

खैर खून खाँसी खुशी, बैर प्रीति मधु-पान ।
रहिमन दाबे ना दबै, जानत सकल जहान ॥ २० ॥

अब रहीम मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम ।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम ॥ २१ ॥

रहिमन विपदा तू भली, जो थोरे दिन होय ।
हित अनहित या जगतमें, जानि परत सब कोय ॥ २२ ॥

साधु सराहै साधुता, जती जोखिता जान ।
रहिमन साँचे सूरको, बैरी करत बखान ॥ २३ ॥

छिमा बड़नको चाहिये, छोटनको उतपात ।
का रहीम हरिको घट्यो, जो भृगु मारी लात ॥ २४ ॥

पावस देखि 'रहीम' मन, कोयल साधी मौन ।
अब दादुर वक्ता भये, हम कहँ पूछत कौन ॥ २५ ॥

रहिमन पैड़ा प्रेमको, निपट सिलसिली गैल ।
बिछलत पाँव पिपीलि को, लोग लदावत बैल ॥ २६ ॥

रहिमन निज सम्पति विना, कोउ न विपति सहाय ।
बिनु पानी ज्यों जलजको, नहि रवि सकै बचाय ॥ २७ ॥

रहिमन धागा प्रेमका, मत तोड़ो चटकाय ।
टूटेसे फिर ना मिले, मिले गाँठ पड़ जाय ॥ २८ ॥

रहिमन जिह्वा बावरी, कहिगै सरग पताल ।
आपु तो कहि भीतर गयो, जूती खात कपाल ॥ २९ ॥

एकै साधे सव सधै, सब साधे सब जाय ।
'रहिमन' सींचै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥ ३० ॥

रहिमन ओछे नरन तें, तजो बैर औ प्रीत ।
काटे चाटे स्वानके, दुहूँ भाँति बिपरीत ॥ ३१ ॥

यह न रहीमसराहिये, देन लेन की प्रीत ।
प्रानन बाजी राखिये, हार होय कै जीत ॥ ३२ ॥

रहिमन मोहि न सुहाय, अमिय पियावत मान बिन ।
बरु विष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो ॥ ३३ ॥

मथत मथत माखन रहत, दही मही बिलगाय ।
रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय ॥ ३४ ॥

टूटे सुजन मनाइये, जौं टूटे सौ बार ।
रहिमन फिरि फिरि पोइये, टूटे मुक्ता-हार ॥ ३५ ॥

कहि रहीम इक दीपतें, प्रगट सबै दुति होय ।
तन-सनेह कैसे दुरै, दृग-दीपक जरु दोय ॥ ३६ ॥

कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुण तीन ।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन ॥ ३७ ॥

अनुचित बचन न मानियें, जदपि गुरायसु गाढ़ि ।
है रहीम रघुनाथ ते, सुजस भरत को बाढ़ि ॥ ३८ ॥

(बरवै नायिका भेद)

खीन मलिन विष भैया, औगुन तीन ।
मोंहि कहत बिधु-बदनी, पिय मति-हीन ॥ ३९ ॥

सघन कुंज अमरैया, सीतल छाँह ।
झगरत आइ कोइलिया, पुनि उड़ि जाह ॥ ४० ॥

खेलत जानिसि टोलवा, नन्द किसोर ।
छुइ वृषभानु कुँअरिया, होइ गइ चोर ॥ ४१ ॥

टूटि खाट घर टपकत, टटिऔ टूटि ।
पिय कै बाँह सिरहनवाँ, सुख कै लूटि ॥ ४२ ॥

बालम अस मन मिलयउँ, जस पय पानि ।
हंसिनि भई सवतिया, लइ बिलगानि ॥ ४३ ॥

(मदनाष्टक)

कलित ललित माला, वा जवाहिर जड़ा था ।
चपल चखन वाला, चाँदनी में खड़ा था ॥
कटि तट बिच मेला, पीत सेला न वेला ।
अलि बन अलबेला, यार मेरा अकेला ॥ ४४ ॥

केशवदास

केशवके पिताका नाम था काशीनाथ। यह सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं. १६१२ वि. में हुआ। ओड़छाके राजा रामसिंहके भाई इन्द्रजीत सिंहके यहाँ इनका बड़ा सम्मान था। महाराज बीरबलने इनकी एक कवितापर प्रसन्न होकर इनको छः लाख रुपये दिये। छंद यह है :—

"केशवदासके भाल लिख्यो विधि रंकको अंक बनाय सँवार्‍यो।
धोये धुवै नहिं छूटो छुटै बहु तीरथ जाय के नीर पखार्‍यो॥
ह्वै गयो रंकते राव तबै जब बीरबली नृपनाथ निहार्‍यो।
भूलि गयो जगकी रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्‍यो॥"

इन्द्रजीत सिंहके संगीत-सदनमें 'प्रवीणराय' नामकी एक सुन्दरी वेश्या थी। वह कविता भी करती थी। राजाको अपना पति ही समझती थी। उसके रूप-गुणकी प्रशंसा सुनकर बादशाह अकबरने उसको बुला भेजा। वह इन्द्रजीत-सिंहके पास आकर गिड़गिड़ाई। उसके इस अनुपम पातिव्रत-प्रेमसे मुग्ध हो राजाने, अकबरके क्रोधका कुछ ख्याल न कर, उसको अपने पाससे अलग नहीं किया। आग-बबूला होकर बादशाहने इंद्रजीत सिंहपर एक करोड़का जुरमाना ठोक दिया, और प्रवीणरायको जबरदस्ती मँगवा लिया।

केशवने 'कवि-प्रिया' पुस्तक इसी वेश्याके लिए रची थी। उसकी कवि-प्रतिभापर यह कवि मुग्ध था। अपनी उक्ति-माधुरीसे अकबरको मुग्ध कर वह सती अपने पतीसे आ मिली। अकबर-दरबारके 'रत्न' महाराज बीरबल केशवको बहुत मानते थे। उन्हीं दोनोंकी कोशिशसे अकबरने इन्द्रजीत सिंहका जुरमाना माफ़ कर दिया।

केशव काव्य-कालके आचार्य थे। संस्कृतके अतुलनीय विद्वान थे। 'कवि-प्रिया' और 'रसिक-प्रिया' लिखकर इन्होंने काव्यके समस्त अंगोंका विधिवत् निरूपण किया। अलंकारोंके चमत्कारकी भरमारको ही यह उत्तम काव्य मानते थे। इसीसे इनकी रचना प्रौढ, सरस तथा विदग्ध है। 'रामचन्द्रिका' प्रसिद्ध प्रबंध-काव्य है। इसके संवाद बड़े ही सुन्दर हैं। अलंकारोंकी भरमार है। श्लिष्ट पद भी अनेक हैं। इन्हीं कारणोंसे हिन्दी-साहित्यमें 'केशव' का घोर आतंक है।

इनके रचे आठ ग्रन्थ हैं:—

१—रसिक-प्रिया, २—कवि-प्रिया, ३—रामचंद्रिका, ४—विज्ञान-गीता, ५—वीरसिंहदेवचरित्र, ६—जहाँगीर-चन्द्रिका, ७—नखशिख, ८—रत्न बावनी।

केशव दासमें रसिकताकी मात्रा भी पर्याप्त थी। बूढ़े होनेपर जब केश सफेद होने लगे, तब उन्होंने एक रस-पूर्ण व्यंग पद कहा:—

"केशव केसनि अस करी, जस अरिहूँ न कराहिं।
चन्द्रबदनि मृगलोचनी, बाबा कहि-कहि जाहिं॥"

रामचन्द्रिका

(धनुष-यज्ञ)

सबहीको समझो सबन, बल विक्रम परिमाण ।
सभा मध्य ताही समय, आये रावण बाण ॥ १ ॥

नर नारि सबै । भय भीत तबै ॥
अचरज्जु यहै । सब देखि कहै ॥ २ ॥

है राकस दशशीशको, दैयत बाहु हजार ।
कियो सबनके चित्त रस, अद्भुत भय संचार ॥ ३ ॥

(रावण) शंभु कोदंड दै । राजपुत्री किते ॥
टूक द्वै तीन कै । जाहुँ लंका ही लै ॥ ४ ॥

(विमति) दस शिर आओ । धनुष उठाओ ॥
कछु बल कीजे । जग जस लीजै ॥ ५ ॥

(वाण) दशकंठ रे शठ छाँड़ि दे, हठ बार बार न बोलिये ।
अब आजु राज समाजमें, बल साजु चित्त न डोलिये ।
गिरिराजते गुरु जानिये, सुरराजको धनु हाथ लै ।
सुख पाय ताहि चढ़ाय कै, घर जाहि रे यश साथ लै ॥ ६ ॥

बाणी कही बान । कीन्ही न सो कान ॥
अद्यापि आनी न । रे बंदि कानीन ॥ ७ ॥

जुपै जिय जोर । तजौ सब शोर ॥
सरासन तोरि । लहौ सुख कोरि ॥ ८ ॥

बज्रको अखर्ब गर्ब गंज्यो, जेहि पर्बतारि जीत्यो है,
सुपर्ब सर्ब भाजे लै लै अंगना ।
खंडित अखंड आशु कीन्हो है जलेश पाशु,
चंदन सी चंद्रिका सों कीन्हीं चंद बंदना ॥
दंडकमें कीन्ही कालदंड हू को मान खंड,
मानो कीन्हीं कालही की कालखंड खंडना ।
केशव कोदंड विषदंड ऐसो खैंडें अब
मेरे भुजदंडन की बड़ी है बिडंबना ॥ ९ ॥

(बाण) बहुत बदन जाके । बिबिध बचन ताके ॥
(रावण) बहुभुज युत जोई । सबल कहिय सोई ॥ १० ॥

(रा.) अति असार भुज भार ही, बली होहुगे बाण ।
(बा.) मम बाहुनको जगतमें, सुनु दसकंठ बिधान ॥ ११ ॥

हौं जब ही जब पूजन जात, पितापद पावन पाप पणासी ।
देखि फिरौं तबहीं तब रावण, सातो रसातल के जे विलासी ॥

लै अपने भुजदंड अखंड, करौं छिति-मंडल छत्र प्रभासी ।
जानै को केशव केतिक बार मैं, सेसके सीसन दीन्ह उसासी ॥ १२ ॥

(रा.) तुम प्रबल जो हुते । भुजबलनि संयुते ॥
पितहि भुव ल्यावते । जगत यश पावते ॥ १३ ॥

(बा.) पितु आनियें केहि ओक । दिय दक्षिणा सब लोक ॥
यह जानु रावन दीन । पितु ब्रह्मके रस लीन ॥ १४ ॥

कैटभ सो नरकासुर सो पलमें, मधु सो मुर सो जेइ मार्‍यो ।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव, पूरण वेद पुराण विचार्‍यो ॥
श्रीकमला-कुच कुंकुम मडन—पंडित देव अदेव निहार्‍यो ।
सो कर माँगन को बलि पै, करतारहु को करतार पसार्‍यो ॥ १५ ॥

(रा.) हमहिं तुमहिं नहिं बूझियें, बिक्रम बाद अखंड ।
अब ही यह कहि देइगो, मदन-कदन-कोदंड ॥ १६ ॥

वृत बाण रावणको सुन्यो । सिर राजमंडल में धुन्यो ॥
(विमति) जगदीश अब रक्षा करो, विपरीत बात सबै हरो ॥ १७ ॥

रावण बाण महाबली, जानत सब संसार ।
जो दोऊ धनु करषि हैं, ताको कहा विचार ॥ १८ ॥

(बा.) केशव और ते और भई गति, जानि न जाय कछू करतारी ।
सूरनके मिलिबे कहँ आय, मिल्यो दसकंठ सदा अविचारी ॥

बाढ़ि गयो बकबाद वृथा यह, भूलि न भाट सुनावहि गारी ।
चाप चढ़ाइहौं कीरति को यह, राज करै तेरी राजकुमारी ॥१९॥

(रा.) मोकहँ रोकि सकै कहु को रे । युद्ध जुरे यमहू कर जोरे ॥
राज सभा तिनुका करि लेखौं । देखिकै राजसुता धनु देखौं॥२०॥

(बा.) बेगि कह्यौ तब रावण सों, अब बेगि चढ़ाउ शरासन को ।
बातैं बनाइ बनाइ कहा कहै, छोडि दे आसन वासन को ॥
जानत है किधौं जानत नाहिन, तू अपने मदनासन को ।
ऐसेहि कैसे मनोरथ पूजत, पूजे बिना नृप-शासन को ॥ २१ ॥

(रा.) बाण न बात तुम्हैं कहि आवै ।
(बा.) सोइ कहौं जिय तोहि जो भावै ॥
(रा.) का करिहौ हम योंहीं बरैंगे ।
(बा.) हैहयराज करी सो करैंगे ॥ २२ ॥

(रा.) भौंर ज्यौं भँवत भूत बासुकी गणेशयुत,
मानो मकरंद बुंद माल गंगा जलको ।
उड़त पराग पट, नाल सी बिशाल बाहु,
कहा कहौं केशोदास शोभा पल पल की ॥
आयुध सघन सर्ब मंगला समेत शर्ब,
पर्वत उठाय गति कीन्हीं है कमल की ।

जानत सकल लोक लोकपाल दिगपाल,
जानत न बाण बात मेरे बाहु-बलकी ॥ २३ ॥

तजि कै सुरारि । रिस चित्त मारि ॥
दशकंठ आनि । धनु छुयो पानि ॥ २४ ॥

तुम बलनिधान । धनु अति पुरान ॥
पीसजहु अंग । नहिं होहि भंग ॥ २५ ॥

खंडित मान भयो सब को, नृपमंडल हारि रह्यो जगती को ।
व्याकुल बाहु निराकुल बुद्धि, थक्यो बल विक्रम लंकपती को ।
कोटि उपाय किये कहि केशव, केहूँ न छाँडत भूमि रती को ।
भूरि विभूति प्रभाव सुभावहिं, ज्यों न चले चित योग-यती को॥२६

धनु अति पुरान लंकेश जानि । यह बात बाण सों कही आनि ॥
हौं पलक माहिं लैहौं चढ़ाय । कछु तुमहूँ तो देखहु उठाय ॥ २७ ॥

मेरे गुरु को धनुष यह, सीता मेरी माय ।
दुहू भाँति असमंजसै, बाण चले सचुपाय ॥ २८ ॥

(रा.) तब सीय लिये बिन हौं न टरौं ।
कहुँ जाहुँ न तौलगि नेम धरौं ॥
जब लौं न सुनौं अपने जनको ।
अति आरत शब्द हते तन को ॥ २९ ॥

(ब्राह्मण) काहू कहूँ सर आसर मार्‍यो ।

आरत शब्द अकाश पुकार्‍यो ।

रावणके वह कान पर्‍यो जब ।

छोड़ि स्वयम्बर जात भयो तब ॥ ३० ॥

जब जान्यो सबको भयो, सबही विधि व्रत भंग ।

धनुष धर्‍यो लै भवनमें, राजा जनक अनंग ॥ ३१ ॥

रसखान

रसखानका जन्म-स्थान दिल्ली था। अपनेको यह बादशाह-वंशका मानते थे। नाम तो कुछ दूसरा ही होगा—'रसखान' तो उपनाम मालूम होता है। इनका जन्म सं. १६१५ में हुआ॥

यह सौन्दर्य-प्रेमी जीव थे—रूपपर मरते थे। अपने शहरके एक सुन्दर वैश्य-पुत्रपर यह दिलोजानसे फिदा थे। सदा उसीके साथ डोलते रहते, उसकी रूप-माधुरीमें मस्त रहते, उसका जूठा भी बड़े प्रेमसे खाते। समाजमें उनपर उंगलियाँ उठतीं, मजाक होते, निन्दा होती। लेकिन प्रेम-मग्नको बाहरी बातोंकी परवा ही क्या?

एक दिन कुछ वैष्णव साधु उपदेश कर रहे थे—'भगवानमें ऐसा भाव-मग्न होना चाहिए, जैसा रसखान उस लड़केपर फिदा है।' यह बात रसखानके कानोंमें पड़ी। वह उन वैष्णवोंसे मिले—उनसे भगवानकी विभूतियोंका परिचय पाया। फिर तो प्रेम-मन्दाकिनी पार्थिव-पथको छोड़कर स्वर्गंगा होगई।

भगवानको खोजते हुए यह गोकुल पहुँचे। इनकी विह्वलता, उत्कट अनुराग तथा प्रेमकी मस्ती देखकर गुसाईं विट्ठलनाथजी ने, विधर्मी या विजातिका विचार न कर, इनको अपनी शिष्य-मंडलीमें मिला लिया। श्रीकृष्णके रंगमें यह

ऐसे रँगे कि 'रसखान' शब्द ही आज प्रेमका उपमान हो रहा है।

एक दूसरी कथा भी सुनी जाती है। रसखान एक सुन्दरी-पर आसक्त थे। लेकिन वह रूप-गर्विता इनका निरादर करती थी। एक दिन यह श्रीमद्भागवत्का फारसी अनुवाद पढ़ रहे थे। उसमें गोपियोंके प्रेमका वर्णन पढ़कर यह उस परम प्रेमी श्री कृष्णके प्रेममें पागल हो उठे। जिसपर ये गोपियाँ निसार हो रही हैं, वह कैसा रूपवान होगा? क्यों न उसीपर तन-मन वारा जाय? उसी समय वह वृन्दावन चले आए। उनका यह दोहा इसका कुछ आभास देता है:—

"तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देवकी छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥"

इनके रचे दो ग्रन्थोंका पता लगता है। 'प्रेम-वाटिका सं. १६७१ में, दोहोंमें रची गई। 'सुजान-रसखान' में कुछ दोहे-सोरठे भी हैं, पर सवैया तथा घनाक्षरी छन्दोंकी ही अधिकता है। सं. १६८५ में इनका गो-लोक-गमन हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने इनको ही लक्ष्य करके यह पद कहा है:—

"इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये!"

रसखान-सुधा

मानुष हौं तो वही रसखान, बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्‍यो कर छत्र पुरंदर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि, कालिन्दी-कूल कदम्ब की डारन ॥ १

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं ।
आठहु सिद्धि नवोनिधि को सुख, नन्द की गाइ चराइ बिसारौं ॥
'रसखान' कबौं इन आँखिन सों, ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं ।
कोटिक हौं कलधौत के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं ॥ २ ॥

आयो हुतो नियरे 'रसखान', कहा कहूँ तू न गई वह ठैंया ।
या व्रजमें सिगरी बनिता, सब वारति प्राननि लेति बलैया ॥
कोऊ न काहु की कानि करै, कछु चेटक सो जू कर्‍यो जदुरैया ।
गाइगो तान जमाइगो नेह, रिझाइगो प्रान चराइगो गैया ॥ ३ ॥

सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं ।
जाहि अनादि अनन्त अखंड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं ॥

नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं ॥४॥

धूर भरे अति सोभित स्यामजू, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी ।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनी बाजती, पीरी कछोटी ॥
वा छबिको 'रसखान' बिलोकत वारत काम कला निधि कोटी ।
काग के भाग कहा कहिये हरि हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥ ५ ॥

खंजन नैन फँदे पिंजरा छबि, नाहि रहैं थिर कैसेहू माई ।
छूटि गई कुलकानि सखी, 'रसखानि' लखी मुसकानि सुहाई ॥
चित्र कढ़ेसे रहैं मेरे नैन नबन कढ़ै मुख दीनी डराई ।
कैसी करौं जिन जाव अली, सब बोल उठैं यह बावरी आई ॥ ६ ॥

गोरज बिराजै भाल लहलही बनमाल,
आगे गैयाँ पाछे ग्वाल गावै मृदु तान री ।
तैसी धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसी,
बंक चितवनि मंद मंद मुसकान री ॥

कदम बिटपके निकट तटिनी के तट,
अटा चढ़ि देख पीत पट फहरान री ।
रस बरसावै तन तपन बुझावै नैन,
प्राननि रिझावै वह आवै रसखान री ॥ ७ ॥

(प्रेम-वाटिका)

प्रेम अयन श्रीराधिका, प्रेम वरन नँद-नंद ।
प्रेम-वाटिका के दोऊ, माली मालिन द्वंद ।। ८ ।।

प्रेम प्रेम सब कोऊ कहत, प्रेम न जानत कोय ।
जो जन जानै प्रेम तो, मरै जगत क्यों रोय ।। ९ ।।

प्रेम-बारुनी छानि कै, बरुन भये जलधीश ।
प्रेमहि सों विष पान करि, पूजे जात गिरीश ।। १० ।।

कमल-तंतु सो छीन अरु कठिन खड़ग की धार ।
अति सूधो टेढ़ो बहुरि, प्रेम पंथ अनिवार ।। ११ ।।

बिनु गुन, जोबन, रुप, धन, बिनु स्वारथ, हित जानि ।
सुद्ध , कामना तें रहित, प्रेम सकल रसखानि ।। १२ ।।

दम्पति सुख अरु विषय रस, पूजा निष्ठा ध्यान ।
इन तें परे बखानिये, सुद्ध प्रेम रसखान ।। १३ ।।

डरै सदा, चाहै न कछु, सहै सबै जो होय ।
रहै एक रस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय ।। १४ ।।

बिहारी

बिहारी लालजीका जन्म ग्वालियरके 'बसुआ गोविन्दपुर' गाँवमें, सं. १६६० वि. में, हुआ। बाल्यावस्था बुंदेलखंडमें बिताकर यौवनमें वह अपनी ससुराल मथुरामें आ रहे। मथुरासे यह जयपुरके तत्कालीन महाराज 'मिर्जाराजा जयसाह' के दरबारमें आए।

राजा साहब अपनी नवोढ़ा रानीके सौन्दर्य तथा प्रेममें इतने निमग्न थे, कि उन्होंने दरबारमें आना ही छोड़ दिया था। दरबारी बेचैन थे। राज-काज रुका-सा था। उसी समय कवि बिहारीका वहाँ आगमन हुआ। सब बातें ताड़कर उन्होंने एक दोहा लिखा और 'रंग-महल' में भिजवा दिया।

"नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल?"

यह मार्मिक दोहा पढ़ते ही रसिक राजा फड़क उठे—ऐसा मर्मज्ञ कौन आया दरबारमें? वह बाहर निकले। बिहारीको धन्यवाद दिया, साथ ही आदेश किया, कि वह प्रतिदिन ऐसे ही मधुर दोहे रचकर सुनावें। प्रति पदके लिए कविको एक-एक अशरफी मिलेगी, इस प्रलोभनसे कविकी भावुकताकी धारा ढालूमें आगई। वह कमनीय-कुसुमोंसे कल्पनाको सजाने लगा।

सात सौ उन्नीस दोहे बने और उतनी ही अशरफियाँ मिलीं। यही 'बिहारी-सतसई' के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

अन्तिम समय बड़े लोगोंके व्यवहारसे कवि असंतुष्ट हो गया। राजाश्रय छोड़कर वह भगवानके आश्रयमें आ गया। उसकी कुछ कविताएँ इस परिवर्त्तनको परिपुष्ट करती हैं। वह सं. १७२० वि. में अमर-लोक चला गया। केवल एक ग्रन्थ रचकर ही मानव 'मृत्युंजय' हो गया।

बिहारी-विहार

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ ।
जा तन की झाँई परे, स्याम हरित दुति होइ ॥ १ ॥

सीस मुकुट कटि काछनी, कर मुरली उर माल ।
यहि बानिक मो मन बसौ, सदा बिहारी लाल ॥ २ ॥

तजि तीरथ हरि-राधिका, तन-दुति करि अनुराग ।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज-मग, पग-पग होत प्रयाग ॥ ३ ॥

सघन कुंज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर ।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर ॥ ४ ॥

चिर जीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ए बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ॥ ५ ॥

नाचि अचानक ही उठे, बिनु पावस बन मोर ।
जानति हौं, नन्दित करी, यहि दिसि नंद-किसोर ॥ ६ ॥

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात ।
मनौ नीलमनि-सैल पर, आतप परयो प्रभात ॥ ७ ॥

कितौ न गोकुल कुल-बधू, काहि न किन सिख दीन ।
कौने तजी न कुल-गली, ह्वै मुरली-सुर लीन ॥ ८ ॥

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठि पट जोति ।
हरित बाँस की बाँसुरी, इन्द्र धनुष-रंग होति ॥ ९ ॥

इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार ।
किते न औगुन जग करत, नै बै चढ़ती बार ॥ १० ॥

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों त्यों उज्जल होइ ॥ ११ ॥

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गाँठ दुरजन-हियें, दई नई यह रीति ॥ १२ ॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल ।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥ १३ ॥

तंत्री-नाद कबित्त-रस, सरस राग रति-रंग ।
अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग ॥ १४ ॥

गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजार ।
वहै सदा पसु-नरन कौं, प्रेम-पयोधि पगार ॥ १५ ॥

चटक न छाँडत घटत हूँ, सज्जन नेह गँभीर ।
फीकौ परै न बरु फटै, रँग्यौ चोल-रंग चीर ॥ १६ ॥

नीच-हिये हुलसे रहे, गहे गेंद के पोत ।
ज्यों-ज्यों माथे मारियत, त्यों-त्यों ऊँचे होत ॥ १७ ॥

जात जात बित होत है, ज्यों जिय में संतोष ।
होत होत त्यों होय तौ, होय घरी में मोष ॥ १८ ॥

मीत न नीति गलीत ह्वै, जो धरिये धन जोरि ।
खाए खरचे जो जुरे, तौ जोरिये करोरि ॥ १९ ॥

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाइ ।
वा खाये बौराइ नर, वा पाये बौराइ ॥ २० ॥

जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब मैं, अपत कँटीली डार ॥ २१ ॥

इहीं आस अटक्यौ रहत, अलि गुलाब कैं मूल ।
ह्वै हैं फेरि बसन्त रितु, इन डारन वे फूल ॥ २२ ॥

पट पाँखै भख काँकरै, सपर परेई संग ।
सुखी परेवा पुहुमि मैं, एकै तुँही बिहंग ॥ २३ ॥

जगत जनायो जिहिं सकल, सो हरि जान्यो नाहिं ।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं ॥ २४ ॥

जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम ।
मन काँचे नाचै बृथा, साँचै राँचै राम ॥ २५ ॥

कबको टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय ।
तुमहू लागी जगत गुरु, जगनायक जग-बाय ॥ २६ ॥

थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि ।
तुमहू कान्ह भये मनों, आज-कालि के दानि ॥ २७ ॥

मोहू दीजै मोष, ज्यों अनेक पतितन दियो ।
जो बाँधे ही तोष, तौ बाँधो अपने गुननि ॥ २८ ॥

दूरि भजत प्रभु पीठि दै, गुन विस्तारन काल ।
प्रगट निरगुन निकट ही, चंग रंग गोपाल ॥ २९ ॥

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ ।
जेतो ऊँचो ह्वै चलै, तेतो नीचो होइ ॥ ३० ॥

कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ ।
जगत तपोवन सौ किये, दीरघ दाघ निदाघ ॥ ३१ ॥

रुनित भृंग घंटावलि, झरत दान मधुनीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंज-समीर ॥ ३२ ॥

अजौं तर्‍यौना ही रह्यो, स्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग ॥ ३३ ॥

मोहन मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोय ।
बसति सुचित अंतर तऊ, प्रतिबिंबित जग होय ॥ ३४ ॥

भूषण

कानपुर जिलान्तर्गत 'तिकवाँपुर' ग्राममें कवि-सिंह "भूषण" सं. १६७० वि. में उत्पन्न हुए। रत्नाकर त्रिपाठीके चार पुत्र थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम, नीलकंठ। चारों भाई कवि हुए सही, लेकिन 'भूषण' सबोंसे बाजी ले गए।

दंत-कथा है :—बचपनके बाद भी भूषण आलसी बने रहे। भाई चिन्तामणि कमाते और यह मौज उड़ाते। एक दिन भोजनके समय भावजने कुछ ताना दिया और वह तिलमिला-कर भागे। चित्रकूट-नरेश रुद्ररामजीने इनकी कवितापर मुग्ध होकर 'कवि-भूषण' की उपाधि इन्हें दी। उसी दिनसे यह 'भूषण' करके ख्यात हुए। असल नाम क्या था, आजतक पता नहीं चला।

भाई 'चिन्तामणि,' औरंगजेबके दरबारमें थे। 'भूषण भी वहाँ पहुँचे। परिचय पाकर बादशाहने कविता सुनाने कहा। बड़ी निर्भीकता तथा विनयसे कविने अर्ज किया—'हुजूर, पहले हाथ धो लीजिए।' दरबार आश्चर्यमें पड़ गया। कुछ न समझ औरंगजेब क्षुब्ध होकर बोला—'क्यों?' 'शृंगार-रस-प्रधान कविताएँ सुनते रहनेके कारण आपका हाथ ठौर-कुठौर पड़ता होगा। मेरी कविता सुनकर वह मूँछोंपर आ जाएगा।' ऐसी धृष्टता देखकर दिल्लीश्वर कुड़मुड़ा उठा—'अगर हाथ मूँछोंपर नहीं गया, तो सिर काट लिया जाएगा!' जरा भी विचलित न होकर प्रतिभाभिमानी बोला उठा—

'बेशक !' बादशाहने हाथ धो लिया। भूषण कविता पढ़ने लगे। अनजानमें ही औरंगजेब मूँछोंपर ताव देने लगा। कविने बंदगी बजाई। बादशाह खुश हो उठा। इनाम-एकराम पाकर भूषण निहाल हो गए। उनकी प्रतिष्ठा दरबारमें बहुत बढ़ गई।

सं. १७२३ वि. में दिल्ली दरबारमें शिवाजीकी वीरता-धीरता देखकर वीर-कवि उनपर रीझ गया। उनके चले जानेपर बादशाहने अपने चापलूस कवियोंको फटकारा—'सब झूठी बड़ाई हाँकते रहते हो—कुछ सच्ची भी तो कहो।' सब चुप रह गए, लेकिन 'भूषण' ने निर्भीकतासे बादशाहकी आलोचना कर डाली। औरंगजेब उस धृष्टको वहीं कत्ल कर देता, लेकिन दरबारियोंके अनुरोधसे कवि की जान बच गई। उसी समय भूषण शिवाजीकी तलाशमें चल पड़े।

सन्ध्या हो चुकी थी। सफरका हारा-थका पथिक 'सिंहगढ़' के एक मन्दिरमें उतरा। उसी समय एक घुड़-सवार वहाँ आया। कविका परिचय पाकर उसने कविता सुननेकी इच्छा प्रकट की। श्रान्त पथिक आगन्तुकके अनुरोधको टाल न सका। वह सुनाने लगा। 'एक और'—के निरंतर आग्रहपर वह बावन कवित्त सुना गया। तब भी आग्रह न रुका। तब खीझकर वह बोला—'क्या तुम शिवाजी महाराज हो, जो मुझे निहाल कर दोगे?' आग्रही मौन भावसे चला गया। दूसरे दिन जब शिवाजीकी राज-सभामें 'भूषण' पहुँचे, तब वही घुड़सवार सिंहासनपर मुसकुरा रहा था। कवि कुंठित हुआ सही, लेकिन उसकी वह कुंठा रही थोड़ी ही देर। सचमुच शिवाजीने उसको निहाल कर दिया। कई लड़ाइयोंमें भूषण शिवाजीके साथ रहकर उनका जोश बढ़ाते रहे।

सं. १७३१ वि. में घर लौटे। रास्तेमें महाराज छत्र साल बुन्देलाके यहाँ भी पहुँचे। जातीय-अभिमानकी इस उज्ज्वल मूर्त्तिका उस गुणी राजाने भी अत्यधिक सम्मान किया—चलते समय उनकी पालकीमें अपना कंधा तक लगा दिया!

घर आनेपर उनकी भावजने, अपार सम्पत्तिके स्वामी, अपने देवरका कैसा आदर किया होगा, यह अनुभव-गम्य है।

सं. १७७२ वि. में 'भूषण' स्वर्ग-लोकके आभूषण हो गए।

भूषणकी तीन रचनाएँ—'शिवराज भूषण', 'शिवा-बावनी' और 'छत्रसाल-दशक'—'भूषण-ग्रन्थावली' में पाई जाती हैं। पहला अलंकार-ग्रन्थ है, दूसरा शिवाजीकी स्तुति तथा उनकी लड़ाइयोंका वर्णन है, तीसरा महाराज छत्रसालकी प्रशंसा है।

महाराज शिवाजीने स्वधर्मके नामपर औरंगजेबकी आंतसे निकालकर एक 'महाराष्ट्र' की स्थापना की। इस महा प्रयत्नमें 'समर्थ गुरुरामदास' ने शिवाजीकी आत्मामें 'विश्वास' आरोपित किया और हिन्दीके कवि-शार्दूल 'भूषण' ने उस विश्वासमें 'साहस' का स्रोत उमड़ा दिया। 'भूषण' की सिंह-गर्जना अब भी 'महाराष्ट्र' के जंगल-पहाड़ोंमें गूँजती है। शिवाजीके नामके साथ 'भूषण' का नाम एक होगया है। स्वराज्यकी स्थापनामें एक समय हिन्दी सहायक हुई थी और भविष्यमें भी होने जा रही है।

भूषण-गर्जन

(श्रीगणेश-स्तुति)

विकट अपार भव पंथ के चले को स्रम
हरन करन विजना से ब्रह्म ध्याइये ।
यहि लोक परलोक सुफल करन,
कोकनद से चरन, हिये आनि के जुड़ाइये ॥
अलि-कुल-कलित-कपोल-ध्यान-ललित-
अनन्द-रूप-सरित में भूषण अन्हाइये ।
पाप-तरु भञ्जन, विघन-गढ़ गञ्जन,
जगत मन रञ्जन, द्विरद मुख गाइये ॥ १ ॥

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी-सी रहति छाती,
वाढ़ी मरजाद जस-हद्द हिंदुवाने की ।
कढ़ि गई रैयत के मनकी कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की ॥
'भूषण' भनत दिल्लीपति दिल धकधक,
सुनि-सुनि धाक सिवराज मरदाने की ।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति 'चकत्ता' के घराने की ॥ २ ॥

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाडव सुअम्भ पर,
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाह पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग झुण्ड पर,
भूषन, वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंसपर,
यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥ ३॥

ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहन बारी,
ऊँचे घोर मंदर के अन्दर रहाती हैं।
कंद मूल भोग कैंरं कंद मूल भोग कैंर,
तीन बेर खातीं ते वै बीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
बिजन डुलातीं ते वै बिजन डुलाती हैं॥
भूषन भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
नगन जड़ातीं ते वै नगन जड़ाती हैं॥ ४॥

सोंधे को अधार किसमिस जिनको अहार,
चार को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।
ऐसी अरि-नारी सिवराज बीर तेरे त्रास,
पायन में छाले परे कन्द मूल खातो हैं॥

ग्रीषम तपनि ऐसी तपति न सुनी कान,
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती हैं।
तोरि तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख,
कहैं सब कहाँ पानी मुकतों में पाती हैं ॥ ५ ॥

केतकी भो राना और बेला सब राजा भये ;
ठौर ठौर लेत रस नित्य यह काज है।
सिगरे अमीर भये कुंद मकरंद भरे ;
भृंग से भ्रमत लखि फूल के समाज हैं ॥
भूषन भनत सिवराज देसदेसन की ;
राखि है बटोरि एक दच्छन में लाज है।
तजत मिलिन्द जैसे, तैसें तजि दूर भाज्यो,
अलि अवरंगजेव, चंपा सिवराज है ॥ ६ ॥

देवल गिरावते फिरावते निसान अली,
ऐसे डूबे राब राने सब गये लब की।
गौरा गनपति आप औरंगको देख ताप,
आपके मुकाम पर मारि गये डुबकी ॥
पीरा पयगंबरा दिगंबरा दिखाई देत,
सिद्ध की सिधाई गई, रही बात रब की।
कासी हू की कला गई, मथुरा मसीद भई।
सिवाजी न होतो तो सुनति होत सबकी ॥ ७ ॥

वेद राखे विदित पुरान राखे, सारयुत
रामनाम राख्यो आनि रसना सुघर में ।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन को,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में ॥
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर में ।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर में ॥ ८ ॥

हरिश्चन्द्र

हरिश्चन्द्र सुख्यात सेठ 'अमीचंद' के वंशज थे। इनके 'पिता गोपालचंद्र' भी अच्छे कवि थे, और 'गिरिधरदास' के उपनामसे कविता करते थे। ४० ग्रंथ इनके नामपर हैं। ऐसे प्रतिभाशाली पिताके सपूत हरिश्चन्द्रका जन्म काशीमें, विक्रमी १९०७ की भाद्र शुक्ला सप्तमीको, हुआ।

छोटी अवस्थामें ही हरिश्चन्द्रने, पिताको कविता रचते देखकर, प्रसंगानुकूल, एक दोहा बनाकर सुना दिया। बालक-की प्रतिभा देखकर पिता गद्गद् हो गए।

९ वर्षकी अवस्थामें ही हरिश्चचन्द्रके ऊपरसे पिताकी छत्रच्छाया उठ गई। पिताके मरनेपर अमीरका लड़का स्वतंत्र हो जाता है। हरिश्चन्द्र कालेज भेजे गए। मन नहीं लगा। फिर सुप्रसिद्ध 'सितारे हिन्द' इनके गुरु हुए। अंग्रेजी इन्हींसे सीखी। थोड़े दिन गुरु-शिष्यमें सद्भाव रहा। लेकिन, आखिर '*गुरु गुड़ चेला चीनी*' की कहावत सत्य हुई। 'सितारेहिन्द' थे 'कंजरवेटिव' और हरिश्चन्द्र हुए 'लिबरल'। अनुदार और उदारमें मित्रता कैसी? वैमनस्य बढ़ा। गुरुको चेलेके आगे झुकना पड़ा।

नवयुवक हरिश्चन्द्र हिन्दी और हिन्दुस्तान पर फिदा थे। सन् १८६८ ई. में. इन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' नाम्नी मासिक-

पत्रिका निकाली। इसमें पुराने कवियोंकी उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। पत्रिकाका सिद्धान्त था:—

"खल जनन सों सज्जन दुखी मति होंहि, हरि-पद मति रहै।
अपधर्म छूटै, स्वत्व निज भारत गहै, करदुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होंहिं, जग आनँद लहै।
तजि ग्राम्य कविता, सुकवि जनकी अमृत बानी सब कहैं॥"

सन १८७४ में आपने 'बाल-बोधिनी' पत्रिका निकाली। साथ ही नाटक-रचनाकी ओर ध्यान गया। हिन्दी-साहित्यमें नाटकोंके पिता आप ही हैं। आपने कई सुन्दर नाटक लिखे और कुछ संस्कृत तथा बंगलासे उल्था भी किया।

"जो गुन नृप हरिचन्दमें, जग-हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥"

यही हरिश्चन्द्रने अपना आदर्श बनाया था। पिता अपार सम्पत्ति छोड़ गए थे। किन्तु कवियों, मित्रों, विद्वानों, अनाथों आदिकी सेवामें इन्होंने धनको पानीकी तरह बहा दिया। भोग भी खूब भोगे—कोई लालसा बाकी नहीं रही। दृढ़ तथा सत्य-प्रिय परले दर्जेके थे। अपनी सहज उदारता-ऊर्म्मियोंमें उलझकर इस निराले निस्पृहने अपनी सारी सम्पत्ति दान कर डाली। फक्कड़ होकर शाहोंके भी शाह हो रहे!

वल्लभ-सम्प्रदायमें रहकर भी आप 'लकीरके फकीर' नहीं थे। कुरीतियोंके लिए कठिन कुठार थे। समाज-सुधारपर आपने कई पुस्तकें लिखी हैं। कई संस्थाएँ भी स्थापित कीं।

"होमियो पैथिक दातव्य चिकित्सालय" अनाथोंके लिए खुलवाया, 'कविता-वर्द्धिनी' सभाको जन्म दिया, 'मुशाइरा' स्थापित किया। हिन्दीके साथ आप उर्दूके भी अच्छे कवि थे। समस्या-पूर्त्तिसे इन्हें बड़ा शौक़ था। यह आशु कवि थे।

इनकी निर्भीकताका एक उज्ज्वल उदाहरण है। महाराणा उदयपुरके दरबारमें गए हुए थे। सम्मानमें कुछ शिथिलता देखकर क्षुब्ध हो उठे। 'निवासी कल्पतरुके'—समस्या-पूर्त्तिकी बारी आई। आप निधड़क कह उठे :—

"राधा-स्याम सेवैं सदा वृन्दावन बास करैं,
रहैं निहचिंत पद आस गुरुवर के।
चाहैं धन-धाम न आराम सों है काम,
हरिचंदजू भरोसे रहैं नंदराय घर के॥
एरे नीच धनी! हमैं तेज तू दिखावै कहा,
गज परवाही नाहिं होयँ कबौं खर के।
होइ ले रसाल! तू भलेई जग-जीव काज,
आसी न तिहारे ये निवासी कल्पतरु के॥"

नाटक, इतिहास, भक्तिरस, चरित-चर्चा, काव्यामृत-प्रवाह—इन पाँच भागोंमें आपके १७५ ग्रन्थ विभक्त हैं। हिन्दी-के अलावा यह संस्कृत, उर्दू, गुजराती, मराठी, बंगला, तथा कई देहाती बोलियाँ भी अच्छी जानते थे। इनमें कविता भी करते थे। अनुपम प्रतिभा देखकर, एक स्वरसे, देशने १८८० में 'भारतेन्दु' की उपाधिसे इन्हें भूषित किया था।

'भारतेन्दु' सच्चे प्रेमी थे। इनका प्रेम एकांगी नहीं था। देश, भाषा, भगवान, अनाथ, सौन्दर्य—सभी दिशाओंमें समभावसे उस प्रेमका प्रवाह था। हिन्दी-कवितामें तथा हिन्दी-संसारमें इन्होंने नवीन चेतनाका उन्मेष किया। 'भारतेन्दु' ने वास्तवमें एक नई ज्योत्स्ना छिटकाई। हिन्दीको इन्हींने 'राष्ट्र-भाषा' का रूप दिया। संवत १९४२ वि. में 'भारतेन्दु' अस्त हो गए—केवल ३५ वर्षकी आयुमें। अपना रूप वह आप खींच गए हैं :—

"सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनी गानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बाँके हम बाँकन सों,
हरीचंद नगद दमाद अभिमानी के॥
चाहिबे की चाह, काहू की न परवाह नेही,
नेह के दिवाने सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के सुदास दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के॥"

———

भारतेन्दु-चन्द्रिका

(दोहा)

निज भाषा उन्नति करहु, सब उन्नति को मूल ।
बिनु निज भाषा-ज्ञान के, मिटत न हिय को शूल ॥ १ ॥

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ॥ २ ॥

जेहि लहि फिर कछु लहन की, आस न जिय में होय ।
जयति जगत पावन करन, 'प्रेम' बरन यह दोय ॥ ३ ॥

चंद मिटै सूरज मिटै, मिटैं जगत के नेम ।
यह दृढ हरिचंद को, मिटै न अविचल प्रेम ॥ ४ ॥

तन पुलकित रोमांच करि, नैननि नीर बहाव ।
प्रेम-मगन उन्मत्त ह्वै, राधा राधा गाव ॥ ५ ॥

प्राण-नाथ व्रज-राजजू, आरति-हर नँदनंद ।
धाइ भुजा भरि राखिये, डूबत भव हरिचन्द ॥ ६ ॥

(७)

(दुखिया अँखियाँ)

इन दुखियान कों न सुख सपने हूँ मिल्यो
यों हीं सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगीं।
प्यारे हरिचन्दजू की बीती जानि औध जोपै
जैहैं प्रान तऊ ये तो साथ न समायँगीं॥
देख्यौ एक बारहू न नैन भरि तोहि याते
जौन जौन लोक जैहैं तहों पछितायँगीं।
विना प्राण प्यारे भये दरस तिहारे हाय!
देखि लीजौ आँखें ये खुली ही रहि जायँगी॥

(८)

सँभारहु अपने को गिरिधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि, राखहु अलक सँवारी॥

हिय हलकत बनमाल उठावहु, मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दै राखौ, कंकन फँसन निवारी॥

नूपुर लेहु चढ़ाइ किंकिनी, खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसि कै, बाँधौ हौ बनवारी॥

हम नाहीं उनमें जिनको तुम, सहजहि दीनों तारी।
बानो जुगओ नीके अबकी हरीचंद की बारी॥

(९)

मन की कासों पीर सुनाऊँ ?
बकनो वृथा और पत खोनी, सबै चवाई गाऊँ ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै, धरिहै उलटा नाऊँ ।
यह तो जो जानै सो जानै, क्यों करि प्रगट जनाऊँ ॥
रोम-रोम प्रति नैन स्त्रवन मन, केहि धुनि रूप लखाऊँ ?
बिना सुजान सिरोमनि री, किहि हियरो काढ़ि दिखाऊँ ? ।
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों, कहि निज दसा रोआऊँ ?
'हरीचंद' पिय मिलैं तो पग परि, गहि पटुका समझाऊँ ॥

(१०)

(स्नेहकी निशानी)

भूली-सी, भ्रमी-सी, चौंकी, जकी-सी, थकी गोपी,
दुखी-सी, रहति कछु नाहीं सुधि देह की ।
मोही-सी, लुभाई, कछु मोदक सो खाये सदा,
बिसरी-सी रहै नेक खबर नहीं गेह की ॥
रिस-भरी रहै, कबौं फूली न समाति अंग,
हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेह की ।
पूछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
जानी हम जानी है निसानो या सनेह की ॥

(यमुना - छवि)

तरनि-तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये ।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये ॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज निज सोभा ।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ॥
मनु आतप बारन तीरको सिमिटि सबै छाये रहत ।
कै हरि-सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत ॥ ११ ॥

कहूँ तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन ।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन ॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा ।
कै उमगे प्रिय प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा ॥
कै करिकै कर बहु पीयको टेरत निज ढिग सोहई ।
कै पूजनको उपचार लै चलति मिलन मन मोहई ॥ १२ ॥

कै पिय-पद उपमान जानि एहि निज उर धारत ।
कै मुख करि बहु भृंगन मिस अस्तुति उच्चारत ।
कै ब्रज तियगन बदन कमल की झलकत झाँईं ।
कै ब्रज हरि-पद-परस-हेत कमला बहु आईं ॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रजमंडल बगरे फिरत ।
कै जानि लच्छिमी-भौन एहि करि सतधा निज जल धरत ॥ १३ ॥

तिन पै जेहि छिन चन्द जोति राका निसि आवति।
जल मैं मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्जल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा ॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै ताछन जमुना नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इक-सी नभ तीर की ॥ १४ ॥

परत चन्द्र-प्रतिबिम्ब कहूँ जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो ॥
मनु हरि दरसन हेत चन्द जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो ॥
कै रास-रमन मैं हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति, वा प्रतिविम्ब लखात है ॥ १५ ॥

कबहुँ होत सत चंद कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन गवन बस बिम्ब रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिडोरन करत किलोलै ॥
कै बाल गुड़ी नभ मैं उड़ी सोहत इत-उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रज-रमनी जल आवती ॥ १६ ॥

कहूँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई ।
उज्जल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई ।
पिय के आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये ।
रत्नरासि करि चूर कूल मैं मनु बगराये ॥
मनु मुक्त माँग सोभित भरी श्याम नीर चिकुरन परसि ।
सतगुन छायो कै तीर मैं व्रजनिवास लखि हिय हरसि ॥ १७ ॥

(प्रभाती)

(१८)

प्रगटहु रवि-कुल-रवि निसि बीती, प्रजा-कमल-गन फूले।
मन्द परे रिपुगन तारा सम, जन-भय-तम उनमूले ॥

नसे चोर लम्पट खल लखि, जब तुव प्रताप प्रगटायो ।
मागध बन्दी सूत चिरैयन, मिलि कल रोर मचायो ॥

तुव जस सीतल पौन परसि, चटकीं गुलाब की कलियाँ ।
अति सुख पाय असीस देत कोई करि, अँगुरिन चट अलियाँ ॥

भये धरम में थित सब द्विज जन, प्रजा काज निज लागे ।
रिपु-जुवती-मुख-कुमुद मन्द, जन चक्रवाक अनुरागे ॥

अरघ सरिस उपहार लिये नृप ठाढ़े तिनकहँ तोखौ ।
न्याय कृपा सौं ऊँच नीच सम समुझि परसि कर पोखौ ॥

(१९)

(दुर्दशा)

रचि बहुबिधि के वाक्य पुरानन माँहिं घुसाये ।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रगटि चलाये ॥

जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो ।
खान-पान-संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो ॥

जन्म-पत्र बिधि मिले ब्याह नहिं होन देत अब ।
बालकपन में ब्याहि प्रीति बल नास कियो सब ॥

करि कुलीन के बहुत ब्याह बल बीरज मार्‍यो ।
बिधवा ब्याह निषेध कियो बिभिचार प्रचार्‍यो ॥

रोकि बिलायत-गमन कूप-मंडूक बनायो ।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो ॥

बहु देवी-देवता भूत-प्रेतादि पुजाई ।
ईश्वर सों सब बिमुख किये हिन्दू घबराई ॥

(२०)

(श्मसान रूपी सन्ध्या)

साँझ सोई पट लाल कसे कटि सूरज खप्पर हाथ लह्यो है ।
पच्छिन के बहु शब्दन के मिस जीव उचाटन मन्त्र कह्यो है ॥

मद्य भरी नर खोपरी सो ससि को नव बिम्बहु धाइ गह्यो है ।
दै बलि जीव पसू यह मत्त ह्वै काल-कपालिक नाचि रह्यो है ॥
सूरज धूम बिना की चिता सोइ अन्त में लै जल मांहि बहाई ।
बोलैं घने तरु बैठि विहंगम रोअत सो मनु लोग लोगाई ॥
धूम अँधार कपाल निसाकर, हाड नछत्र लहू सो ललाई ।
आनन्द हेतु निसाचर के यह काल मसान सी साँझ बनाई ॥

(२१)

ररुआ चहुँ दिसि ररत डरत सुनि कै नर नारी ।
फटफटाइ दोउ पंख उलूकहु रटत पुकारी ॥
अन्धकार बस गिरत काक अरु चील करत रव ।
गिद्ध गरुड हड़गिल्ल भजत लखि निकट भयद रव ॥
रोअत सियार, गरजत नदी, स्वान भूकि डर पावई ।
सँग दादुर झींगुर रुदन धुनि मिलि स्वर तुमुल मचावई ॥

(मृत्यु-लीला)

मरनो भलो विदेस को, जहाँ न आपुनो कोय ।
माटी खायँ जनावरा, महा महोच्छब होय ॥ २२ ॥

सिर पर बैठ्यो काग आँख दोउ खात निकारत ।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनंद उर धारत ॥

गिद्ध जाँघ कहँ खोदि खोदि के माँस उचारत ।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान विचारत ॥
बहु चील नोचि लै जात तुच, मोद मढ्यो सबको हियो ।
मनु ब्रह्म-भोज जिजमान कोउ, आजु भिखारिन कहँ दियो ॥ २३ ॥

सोई मुख सोई उदर, सोई कर पद दोय ।
भयो आज कछु और ही, परसत जेहि नहिं कोय ॥ २४ ॥

हाड मास लाला रकत, बसा तुचा सब सोय ।
छिन्न भिन्न दुर्गन्ध मय, मरे मनुस के होय ॥ २५ ॥

कादर जेहिं लखि कै डरत, पंडित पावत लाज ।
अहो! व्यर्थ संसार को, विषय वासना साज ॥ २६ ॥

सोई मुख जेहि चन्द बखान्यो । सोई अँग जेहि प्रिय करि जान्यो ॥
सोई भुज जे पिय-गर डारें । सोइ भुज जिन नर विक्रम पारें ॥
सोई पद जेहि सेवक बन्दत । सोई छबि जेहि देखि अनन्दत ॥
सोइ रसना जहँ अमृत बानी । जेहि सुनि कै हिय नारि जुडानी ॥
सोइ हृदै जहँ भाव अनेका । सोइ सिर जहँ निज बच टेका ॥
सोई छबिमय अंग सुहाये । आज जीव बिनु धरनि सुबाये ॥
कहाँ गयी वह सुन्दर शोभा । जीवत जेहि लखि सब मन लोभा ॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जा कहँ चाहत । ता कहँ आजु सबै मिलि दाहत ॥

फूल बोझ हू जिन न सहारे । तिन पै बोझ काठ बहु डारे ॥
सिर पीडा जिन की नहि हेरी । करत कपाल-क्रिया तिन केरी ॥
छिन हूँ जे न भये कहुँ न्यारे । ते हू बन्धुन छोडि सिधारे ॥
जो दृग कोर महीप निहारत । आज काक तेहि भोज विचारत ॥
भुजबल जे नहिं भुवन समाये । ते लखियत मुख कफन छिपाये ॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे । गने काल सब एकहि लेखे ॥
सुभग कुरूप अमृत विष साने । आजु सबै इक भाव बिकाने ॥
पुरु दधीचि कोउ अब नाहीं । रहे नाम ही ग्रन्थन माँहीं ॥ २७ ॥

(भारत जय !)

(२८)

चलहु बीर उठि तुरत सबै जय ध्वजहि उड़ाओ ।
 लेहु म्यान सों खड्ग खींचि रन-रंग जमाओ ॥

परिकर कसि कटि उठो धनुष पै धरि सर साधौ ।
 केसरिया बानो सजि सजि रन-कंकन बाँधो ॥

जौं आरजगन एक होइ निज रूप सम्हारैं ।
 तजि गृह-कलहहिं अपनी कुल-मरजाद विचारैं ॥

तौ ये कितने नीच कहा इनको बल भारी ।
 सिह जगे कहुँ स्वान ठहरिहैं समर मँझारी ॥

इनको तुरतहिं हतौ मिलैं रन कै घर माहीं।
इन दुष्टन सों पाप किए हूँ पुन्य सदाहीं॥

चिउँटिहु पद-तल दबे डसत है तुच्छ जंतु इक।
ये प्रतक्ष अरि इनहिं उपेछै जौन ताहि धिक॥

उठहु बीर तरवार खींचि मारहु घन संगर।
लोह लेखनी लिखहु आर्य-बल दुष्ट हृदय पर॥

मारू बाजे बजैं, कहौं धौंसा घहराहीं।
उड़हिं पताका सत्रु-हृदय लखि लखि थहराहीं॥

चारन बोलहि आर्य-सुजस बन्दी गुन गावैं।
छुटहिं ताप घनघोर सबै बन्दूक चलावैं॥

चमकहिं असि भाले दमकहिं ठनकहिं तन बखतर।
हीसहिं हय झनकहिं रथ गज चिक्करहिं समर थर॥

छन महँ नासहिं आर्य नीच रिपुगन कह करि छय।
कहहु सबै भारत जय भारत जय भारत जय॥

चयनिका

(१)

सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज
की सरसिज बिनु सूरे ।
जौवन बिनु तन तनु बिनु जौवन
की जौवन पिय दूरे ॥
सखि हे मोर बड़ दैव विरोधी ॥

(२)

सरस बसंत समय भल पावलि, दछिन पवन बह धीरे ।
सपनहु रुप बचन इक भाषिय, मुखसँ दूर करु चीरे ॥

तोहर बदन सम चाँद होअथि नहिं, कैयो जतन बिह केला ।
कै बेरि काटि बनावल नव कै, तैयो तुलित नहिं मेला ॥

लोचन तूअ कमल नहिं भै सक, से जगके नहिं जाने ।
से फिरि जाइ लुकैलन्ह जल भएँ, पंकज निज अपमाने ॥

भनइ 'विद्यापति' सुन बरजौवति, ई सभ लछमि समाने ।
राजा 'सिवसिंह' रूप नारायन, 'लखिमा देइ' प्रति भाने ॥

—"विद्यापति."

(३)

झरि लागै महलिया गगन घहराय ॥
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय ।
सुन्न महलसे अमृत बरसैं, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय ॥
खुली केवरिया, मिटी अँधिरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय ।
'धरमदास' बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय ॥

—"धर्मदास."

(४)

मन की मनहीं माहिं रही ।
ना हरि भजे, न तीरथ सेये, चोटी काल गही ॥
दारा मीत पूत रथ संपति, धन जन पूर्न मही ।
और सकल मिथ्या यह जानो, भजना 'राम' सही ॥
फिरत फिरत बहुते जुग हार्‍यो, मानस देह लही ।
'नानक' कहत मिलन की बिरियाँ, सुमिरत कहा नहीं ॥

—"नानक."

(५)

मिसरी माँहैं मेलकरि, माल बिकाना बंस ।
यों 'दादू' महिंगा भया, पारब्रह्म मिलि हंस ॥

केते पारिख पचि मुये, कीमति कही न जाइ ।
'दादू' सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाई ॥

जब मन लागै राम सों, तब अनत काहे को जाइ ।
'दादू' पाणी लूण ज्यों, ऐसे रहै समाइ ॥

क्या मुँह ले हँसि-बोलिये, 'दादू' दीजै रोइ ।
जनम अमोलक आपणा, चले अकारथ होइ ॥

—"दादू."

(६)

बोलिये तौ तब जब बोलिबे की सुधि होइ
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिये ।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की जानि परै,
तुक छंद अरथ अनूप जा में लहिये ॥
गाइये तौ तब जब गाइबे को कंठ होइ
स्रौन के सुनत ही मन जाइ गहिये ।
तुक भंग छंद भंग अरथ मिलै न कछु
सुंदर कहत ऐसी बानी नहीं कहिये ॥

—"सुन्दरदास."

(७)

भील कब करी थी भलाई जिय आप जान,
फील कब हुआ था मुरीद कहु किसका ।

गीध कब ज्ञान की किताब का किनारा छुआ,
ब्याध और बधिक निसाफ कहु तिसका ॥
नाग कब माला लैके बंदगी करी थी बैठ,
मुझको भी लगा था अजामिलका हिसका ।
एते बदराहों की बदी करी थो माफ,
जन 'मलूक' अजाती पर एती करी रिस का ॥

—"**मलूकदास.**"

(८)

बिरह-अवधि अवगाह अपारा । कोटि माहिं एक परै त पारा ॥
बिरह कि जगत अँबिरथा जाही । बिरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥
नैन बिरह-अंजन जिन सारा । बिरह रूप दरपन संसारा ॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई । जाहि सरीर बिरह दुख होई ॥
रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज होइ ।
चंदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ?

(मंझन.)

(९)

जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ तें?

वा गुन की परछाहँ री माया-दरपन बीच ।
गुन तें गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच ॥
सखा सुनु स्याम के ॥

—"**नंददास.**"

(१०)

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो ।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो ॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो ।
'कृष्णदास' किए प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यो ॥

—"**कृष्णदास.**"

(११)

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय ॥
जहँ नहिं जल जमुना को निमल और नहीं कदमन की छायँ ।
'परमानन्द' प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रज-रज तजि मेरी जाय बलाय ॥

—"**परमानन्द.**"

(१२)

नहिं ऐसो जन्म बारम्बार ।
क्या जानूँ कछु पुन्य प्रकटे, मानुसा अवतार ॥

चढ़त पल पल घटत छिन छिन, चलत न लागे बार ।
बिरछ के ज्यों पात टूटे, लागे नहिं पुनि डार ॥
भौ सागर अति जोर कहिये, विषय ओखी धार ।
सुरत का नर बाँध बेड़ा, बेगि उतरे पार ॥
साधु संता ते महंता, चलत करत पुकार ।
"दासमीरा" लाल गिरिधर, जीवना दिन चार ॥

—"**मीराबाई.**"

(१३)

नवल किसोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया ॥
करत विनोद तरनि-तनया-तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया ।
यों लपटाइ रहे उर अंतर, मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया ॥
उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया ।
'सूरमदन मोहन' बलि जोरी, नँद-नंदन वृषभानु-दुलरिया ॥

—"**सूरमदनमोहन.**"

(१४)

आज कछु कुंजन में बरषा सी ।
बादल-दल में देखि सखी री ! चमकति है चपला सी ॥
नान्ही नान्ही बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी ।
मंद मंद गरजनि सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी ॥

इन्द्रधनुष बग-पंगति डोलति, बोलति कोक कला सी ।
इन्द्रबधू छबि छाइ रहो मनु गिरि पर अरुन घटा सी ॥
उमगि महीरुह स्यों महि फूली, भूली मृग-माला सी ।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी ॥

—"हरिराम व्यास"

(१५)

प्रेम बात कछु कही न जाई । उलटी चाल तहाँ सब भाई ॥
प्रेम बात सुनि बौरो होई । तहाँ सयान रहै नहिं कोई ॥
तन मन प्रान तिहि छन हारै । भली बुरी कछुवै न विचारै ॥
ऐसो प्रेम उपजि है जबहीं । हित 'ध्रुव' बात बनैगी तबहीं ॥

—"ध्रुवदास"

(१६)

नाहीं नाहीं करै, थोरो माँगे सब देन कहै,
मंगन को देखि पट देत बार बार है ।
जिनके मिलत भलि प्रापति की घटी होति,
सदा सुभ जन मन भावै निरधार है ॥
भोगी ह्वै रहत बिलसत अवनी के मध्य,
कन कन जोरै, दान-पाठ परवार है ।
'सेनापति' वचन की रचना निहारि देखौ,
दाता और सूम दोऊ कीन्हें इक सार है ॥

—"सेनापति"

(१७)

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै,
मोहन को तन पानिप पीजै;
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव
बसे कहु कैसे के जीजै ॥
होत रहै मन यों 'मतिराम',
कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै वनमाल हिय लगिए अरु,
ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै ॥

—"मतिराम"

(१८)

कलुष-हरनि सुख-करनि सरन जन
बरनि बरनि जस कहत धरनि धर।
कलि-मल-कलित बलित-अघ खल गन
लहत परमपद कुटिल कपट तर ॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगत वर।
सुरसरि! तव जल दरस परस करि,
सुर सरि सुभगति लहत अधम नर ॥

—"थान कवि"

(१९)

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै
बृन्दाबन बीथिन बहार बंसीबट पै ।
कहै 'पद्माकर' अखंड रास मंडल पै
मंडित उमड़ि महा कालिन्दी के तट पै ॥
छिति पै छान पर छाजत छतान पर
ललित लतान पर लाड़िली के लट पै ।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि,
पाई छबि आजु ही कन्हाई के मुकुट पै ॥

—"पद्माकर"

(२०)

दिया है खुदा ने खूब खुसी करो 'ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है ।
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लगो न ठिकाना है ॥
ऐसो जिन्दगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे !
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है ।
आए परवाना पर चलैना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है, न जाना है ॥

—"ग्वाल कवि"

(२१)

भले बुरे सब एक सों, जौ लौं बोलत नाहिं ।
जानि परतु हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं ॥
हितहू की कहिय न तिहि, जो नर होय अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध ॥
जे चेतन तें क्यों तजैं, जाको जासों मोह ।
चुंबक के पीछे लग्यो, फिरत अचेतन लोह ॥
सेइय नृप गुरु तिय अनिल, मध्य भाग जग माहि ।
है विनाश अति निकट तें, दूर रहे फल नाहिं ॥

—"वृन्द

(२२)

जीभ जोग अरु भोग, जीभ बहु रोग बढ़ावै ।
जीभ करै उद्योग, जीभ लै कैद करावै ॥
जीभ स्वर्ग लै जाय, जीभ सब नरक दिखावै ।
जीभ मिलावै राम, जीभ सब देह धरावै ।
निज जीभ ओठ एकग्र करि, बाँट सहारे तोलिये ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो, जीभ सँभारे बोलिये ॥

(२३)

टका करै कुल हूल, टका मिरदंग बजावै ।
टका चढ़े सुखपाल, टका सिर छत्र धरावै ॥

टका माय अरु बाप, टका भैयन को भैया ।
टका सास अरु ससुर, टका सिर लाड़ लड़ैया ॥
अब एक टके बिनु टकटका, रहत लगाये रात दिन ।
बैताल कहै विक्रम सुनो, धिक जीवन एक टके बिन ॥

(२४)

मर्द सीस पर नवै, मर्द बोली पहिचानै ।
मर्द खिलावै खाय, मर्द चिन्ता नहिं मानै ॥
मर्द देय और लेय, मर्द को मर्द बचावै ।
गाढ़े सँकरे काम, मर्द के मर्दै आवै ॥
पुनि मर्द उनहिं को जानिये, दुख सुख साथी दर्द के ।
"बैताल" कहै विक्रम सुनो, लच्छन हैं ये मर्द के ॥

—बैताल-

दोहे ।

प्रीतम नहीं बजार में, वहै बजार उजार ।
प्रीतम मिले उजार में, वहै उजार बजार ॥ १ ॥

सरस कविन के हृदय को, बेधत है सो कौन ।
असमझवार को सराहिबो, समझवार को मौन ॥ २ ॥

खेती बारी बीनती, औ घोडे की तंग ।
अपने हाथ सँवारिये, लाख होय कोउ संग ॥ ३ ॥

करनो पार उतारि है, "धरनी" कियो पुकार ।
साकित बाह्मन नहिं भला, भक्ता भला चमार ॥ ४ ॥

प्रीतम प्रीति लगाइ कै, दूर देस मत जाव ।
वसो हमारी नागरी, हम माँगैं तुम खाव ॥ ५ ॥

साँझ भई दिन बीत गा, चकई दीन्हो रोय ।
चलो पिया उस देस को, रैन जहाँ नहि होय ॥ ६ ॥

कागद भीजत नयन जल, कर काँपत मसि लेत ।
पापी विरहा मन बसत, बिथा लिखन नहिं देत ॥ ७ ॥

सुत नहिं अबला करि सकै, मन न समुद्र समाय ।
धर्म न पावक में जरै, नाम काल नहिं खाय ॥ ८ ॥

(पहेली - पुंज)

बीसों का सिर काट लिया ।
ना मारा ना खून किया ॥ १ ॥

—नाखून.

एक नार ने अचरज किया ।
साँप मार पिंजरे में दिया ॥
जों जों साँप ताल को खाए ।
सूख ताल साँप मर जाए ॥ २ ॥

—दीयाकी बत्ती.

आगे आगे बहिना आई, पीछे पीछे भइया ।
दाँत निकाले बाबा आये, बुरका ओढे मैया ॥ ३ ॥

—भुट्टा.

खेत में उपजे, सब कोई खाय ।
घर में होवे, घर खा जाय ॥ ४ ॥

—फूट.

एक नार कुएँ में रहे ।
वाको नीर खेत में बहे ॥
जो कोई वाके नीर को चाखे ।
फिर जीवन की आस न राखे ॥ ५ ॥

—तलवार.

बात की बात, ठठोली की ठठोली ।
मरद की गाँठ औरत ने खोली ॥

—ताला.

आदि कटे से सब को पारे ।
मध्य कटे से सब को मारे ॥
अन्त कटे से सब को मीठा ।
" खुसरू " वाको आँखों दीठा ॥ ७ ॥

—काजल.

" खुसरो मियाँ "

(माताका उपदेश)

पीठ ठोंकि के ता ऊदलकी माता मल्हना बोलन लागि ।
बेटा धर्म सुनो खेतन के ताते तुमका देउँ जनाय ॥
जो भागे ताको ना मरिहौ ना निरबल पर करिहौ वार ।
हाथ न डरिहौ तुम तिरिया पर बूड़े छत्री धरम तुम्हार ॥

देई दोहाई ता नहिं मरिहौ जाके पास नहीं तरवार ।
यह सब नीति कही खेतन की या सब मनिहौ कहा हमार ॥

(युद्धका वर्णन)

खट खट खट खट तेगा बाजै, बाजै छपकि-छपकि तरवार ।
धड़ धड़ धड़ धड़ गोला छूटै, धूँवा धूरि एक ह्वै जाय ॥
सर सर तीर करे धनुहनते, गोली फटकि-फटकि रहि जाय ।
गिरे सिपाही दोनों दल के अपनी खींचि-खींचि तरवार ॥

निकले खाँड़ा बर्दवान के औ नागौदी केर कटार ।
खुखड़ा निकले नैपालिन के जिनके लगे भरहरा खाय ॥
ऐसी मार भई समुहे की इकदम बही खून की धार ।
रुंड-मुंड ह्वै छत्री गिरिगे—पानी-पानी रहे पुकार ॥

जादम ढाल परे खूनन में मानो कछुवा परे दिखाय ।
गोली दौरि रही लोहुन में मानो सर्प रहे भन्नाय ॥
नचे बेंदुला ताके ऊपर सबसे कहै उदयसिंह राय ।
तुम सब नौकर ना महुबे के—तुम सब लागो भाय हमार ॥

यही समैया है लरिबे को ताते तुम्हैं देउँ समुझाय ।
लाज राखिहौ गढ़ महुबे की ना तुम रखिहौ पाँव पिछार ॥
प्रान पियारो जो काहूको, यारो तलब लेउ घर जाउ ।
जिनके गौने हालहि आये, सो घर जाउ धरो हथियार ॥
साथ हमारे सोई आवै जो लोहे के चने चबाय ॥

(आल्हा खंडसे)

समाप्त

शब्दार्थ

(साखी)

१— जाके - जिसके ।

२—जाको राखै साँइयाँ - जिसको स्वामी (ईश्वर) रखता (रक्षा करता) है ।

३—बास - सुगंध ।

,, पुहुपन - फूल ।

४—गांठी - गाँठ, गिरह ।

,, पन - हाट ।

,, पारखू - पारखी (जौहरी), परीक्षक ।

,, गाँहक - गाहक (ग्राहक), खरीदार ।

५—रंचक - थोड़ा ।

,, कंचन - सोना ।

७—आतम - आत्मा ।

,, सार सार को गहि रहै थोथा देइ उड़ाय - सार पदार्थको पकड लेता है, और निस्सारको उडा देता है ।

९—सूरमा - (शूरमानी) वीर ।

,, बरन - वर्ण-भेद (ब्रा. क्ष. वै. शू.)

१०—खाला - मौसी (माताकी बहन) भुइँ भूमि ।

११—बाडी - बाटिका ।

१२—पिंजर बसै - पिंजरे (शरीर) में बसे ।

१३—घट - शरीर ।

,, मसान - श्मशान ।

,, खाल - चमडा ।

१४—सुमिरन - (स्मरण) नाम - भजन ।

,, चितवौ - देखना, सुधिलेना।

,, माहिं - में ।

१५—राखा - रखना (रक्षाकरना)।

१६—जिन माथे मनि होय - जिस के माथेमें मणि हो (जो भाग्य वान हो) ।

१७—चिक - परदा ।

,, रिझाय - रिझाना-खुश करना।

१८—हेत - अनुराग।
१९—पतियाँ - पत्र, चिट्ठी।
,, कहुँ - कहीं।
,, वाको - उसीको।
२०—निभावन - निबाहना, जारी रखना।
,, एक रस - समान भावसे, एक रूपसे।
,, व्योहार - (व्यवहार) काम।
२१—आन - अन्य बात, कुछ दूसरा।
,, दीजै जान - जाने दीजिए।
२३—मनका - मालका दाना।
,, करका मनका डारिदे - हाथकी माला फेंक दे।
२४—मनुवाँ - मन।
२५—पगरा - सबेरा, (चलने-फिरने-का समय)।
,, जून - समय, काल।
,, सब काहू को - सभीको।
,, चोंच समाता चून - चोंचमें आने लायक चूर्ण (दाना)।
२६—समाय - (समाना) प्रवेशकरना।
,, जामे कुटुम समाय - जिसमें कुटुंबका पालन हो सके।
२७—फूले फूले चुनलिये-खिले हुए फूलोंको चुन (तोड) लिया।
२७ काल्हि हमारी बार - कल मेरी बारी है।
२८—लेहँडे - झुंड।
,, पांति - (पंक्ति) समूह।
,, बोरियाँ - (बोरे) जिसमें अनाज कसे जाते हैं।
,, जमाति - जमात, झुंड, दल।
२९— आछे - अच्छे।
,, पाछे - पीछे।
३०—बाढे - बढनेसे, ज्यादा होनेसे।
,, उलीचिये - बाहर फेंकिए।
३१—तरबार - तलवार।
३२—गाँठी दाम न बांधई - गाँठमें पैसा नहीं बाँधता (धन नहीं जोडता)।
,, खेह - धूलि।
३४—जंजार - झंझट।
३५—सिर राखे सिर जात है सिर काटे सिर होय - सिरकी रक्षा करना अर्थात् प्राण-भयसे कायर होना, सिरकाटना अर्थात् त्यागसे अमर होना। (कायरजी कर भी मुर्दा है और वीर मरकर भी अमर बनता है)।
३७—दुलीचा - हाथीके हौदेपरकी जडीदार मखमली चादर।

,, झख मारि - झख मारकर (अपना समय खोकर)।

३८—जिन ढूँढा तिन पाइयाँ - जिनने ढूँढा, उनने पाया।

३८—बौरी - बावली, पगली।

३९—ता सिर करडे कोस - उसके सिर कोस कढता (बढता) है। अर्थात् आलसियोंको सब काम असंभव दीखता है।

४०—मिलिया - मिला।

४१—असवार - सवार।

,, पियादा - प्यादा(पैदल साथ चलनेवाला)।

,, त्रिसना - तृष्णा, लालसा।

,, बिषे - विषय, भोग-पदार्थ।

४२—नियरे - निकट, पास(near)

,, छवाय - छबाकर, बनवाकर।

४३—बिरानी - पराई, दूसरेकी।

,, चूपडी - घी लगी रोटी।

,, जीव - जी, मन; जीभ।

४४—पाहन - (पाषाण) पत्थर।

४५—१२ ऍचातानि - खींच-तान।

४६—केसन - केश।

,, मूँडो - कटाओ।

,, जामें - जिसमें।

४७—लादिनि - (लादना=बोझना) लादा, बोझ डाला।

७४ मन दस और - और दस मन (बोझ लाद लिया)।

४८—साधिया - सधता है; सफल होता है।

,, अघाय - (अघाना=पेटभर खाकर खुश होना); खुश हो कर।

४९—हँस-हँस कंत न पाइयाँ - हँसी-खेलमें स्वामी (भगवान्) नहीं प्राप्त होते। अर्थात् स्वामीको पाना इतना आसान नहीं है।

,, जिन पाया तिन रोय - जिनने पाया, उनने राकर (पाया)। अर्थात् बडी कठिन तपस्याके बाद मिलन हुआ।

,, पिउ-प्रिय, प्रियतम, स्वामी।

,, दुहागिन - (दुर्भागिनी)अभागिनी।

५०—हम बासी वा देस जहँ बारह मास विलास प्रेम झरैबिगसै-कँवल तेजपुंज परकास - हम उस देशके वासी हैं जहाँ बारहो मास विलास (आनन्द) रहता है। जहाँ प्रेमबरसता है, कमल खिलता है और तेजपुंज प्रकाश फैलता रहता है। (यह आत्मकी ज्योतिका सकेत है)।

(भजन)

१—बौराना - बावला बन गया ।
,, साँच - सच, सत्य ।
,, पतियाना - (पतियाना = विश्वास करना) विश्वास किया ।
,, नेमी - नियमसे रहनेवाला ।
,, असनाना - स्नान ।
,, पखानहि - (पाषाण)पत्थरको ।
,, किछू - कुछ ।
,, बहुतक - बहुतेरे ; बहुतसे ।
,, पीर-औलिया - मुसलमानोंके महात्मा ।
,, कितेव - किताब ।
,, मुरीद - चेला, अनुगामी। मनोरथ पूर्ण करनेवाला ।
,, उहै - उतना ही, वही ।
,, डिंभ - घमंड ; आडंबर ।
,, पीतर - पीतल ।
,, तीरथ गरब - तीर्थके गर्वमें भूले हुए ।
,, छाप - साधुओंके शरीरपरकी निशानी (शंख-चक्रादि)।
,, अनुमाना - सम्प्रदायके अनुसार ।
,, साखी-सब्दै - साखी और शब्द (रचना-विशेष) ।

१ मूये - मरे ।
,, बूडे - डूबे ।
,, केतकि कहौ - कितना भी कहूँ ।
,, सहजै सहज समाना - धीरे धीरे सब चौरासीमें मिल गए।

२—दुनो - दोनों ।
,, डीठा - देखा ।
,, हटा - रोक-थाम ; (हटकना= बरजना, रोकना)
,, सिंघारा - फल-विशेष ।
,, सेती - साथ ।
,, पारन करैं सगोती - सगोत्र (भाई-बंधुके साथ) पारण (व्रतके बादका पहला भोजन) करते हैं ।
,, बिसमिल - बिस्मिल्लाह, खुदा ।
,, बाँग - मुर्गेकी बोलीकी तरह जोरकी अवाज ।
,, भीस्त - (बिहिश्त), स्वर्ग ।
,, मेहर - कृपा, दया ।
२ हलाल - गला रेतकर धीरे धीरे मारना ।
,, झटका - एक आघातमें काट डालना ।

२—राम न कहेउ खुदाई - जीव मारना न रामने कहा न खुदाने ।

३ कवने - कौन ।

,, केसो - केशव।

,, गहना - भूषण, जेवर, अलंकार ।

,, थापिनि - स्थापित किया।

,, कुतुबा - बहुत सी किताबें रखने वाला ।

,, बेगरि - अलग, भिन्न ।

,, मटिया - मिट्टी ।

,, भाडे - बरतन ।

,, किनहुँ - किन्हींने ।

,, खस्सी - बधिया बकरा ।

,, बादहिं - व्यर्थ ही ।

४ जिहि - जिस ।

,, सिस्टि - सृष्टि; संसार ।

,, समानी - घुसी हुई ।

,, भींजे - भीगे, डूबे ।

,, सहस - (सहस्र), हजार ।

,, पैग पैग पैगंबर गाडे - पगपगपर पैगंबर (अवतारी पुरुष) गडे हुए हैं ।

,, सो सभ सरि भौ माँटी - वह सब सडकर मिट्टी हो गए हैं।

४—मच्छ, कच्छ, घरियार - मछली, कछुआ, मगर ।

,, बियाने - बच्चे जने ।

,, भरिया - भरा हुआ ।

,, नदिया नीर नरक बहि आवै-नदीके जलमें नरककी गंदगी बह आती है ।

,, सरिया - सडा हुआ ।

,, हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि-हड्डी चूर चूर होकर और गूदा गल गल कर। (गायका दूध उसकी हड्डी और मज्जासे झरता है)

,, जेवन - (जीमना = भोजनकरना), भोजन करने ।

,, छूति - छूत अछूतका भाव।

५—तिरिगुन फाँस लिये कर डोलै - तीन गुणों (सत्त्व, रज, तम) का फंदा हाथमें लिये घूमती है ।

,, मूरति - मूर्त्ति ।

,, तीरथहूँ महँ - तीर्थोंमें भी ।

,, ई सभ - यह सब।

६—अपुन पौ आपुहि बिसरो - आपनेको आप भूला ।

,, सुनहा - (श्वान), कुत्ता ।

६—मँदिल - मन्दिर ।
,, भूँसि - भूँककर ।
,, केहरि - सिंह ।
,, बपु - शरीर ।
,, देखि परो - देखकर गिर पडा।
,, दसनन्हि आनि अरो - आकर दाँत अडाया ।
,, मरकट मूँठि स्वाद नहि बिहुरे- बंदर अपनी मुट्ठीका मोह नहीं छोडता (और उसीसे पकडा जाता है) ।
,, ललनी के सुगना - बाँसकी नलीपर बैठा सुग्गा आप ही पकडा जाता है ।
,, कवने - कौन ।
,, पकरो - पकड़ा ।
७—तोको - तुमको ।
,, रमता - (रममान) लीन, व्याप्त ।
,, जोबन - यौवन, जवानी ।
,, पचरँग - पाँच रंगका ।
,, चोल - पहनावा, पोशाक ।
,, सुन्न - शून्य ।
,, दियना - दीप ।
,, बारिले - जला लो ।
,, जोग जुगत सो - योगकी युक्तिसे, योग-साधन-मार्गसे ।

८—असनान - स्नान ।
,, बिधि ते देवि पुजाई - शास्त्रोक्त विधिसे देवीकी पूजा की ।
,, पलकमों बिनसैं - पलमें विनष्ट होते हैं ।
,, जम लाये हैं धोखै - यमदूतको धोखेमें लाना (रखना) चाहा ।
,, खोटे - नीच, अधम, अपवित्र ।
९—कहुधौं - (किधौं, कैधौं) अथवा; न जाने; कहो तो सही ।
,, नादे बिन्दे रुधिर के संगे - नाद, बिन्दु और रुधिर (लहू) के साथ ।
,, घटहि महँ घट सपचै - (अपने) शरीरमें ही शरीर बढता है । (सपचै = बढता है) ।
पवन, वीर्य और रजके संयोगसे गर्भाशय में गर्भ रहता है ।
,, अस्ट कवँल होय पुहुमी - अष्ट दल कमल होकर पृथ्वी, पर आया । (नाभी चक्रके नीचे रहनेवाले गर्भसे बालक पृथ्वीपर आता (पैदा होता) है ।

९—लख चौरासी नाना बासन - चौरासी लाख योनियोंमें बँटे हुए प्राणियोंके विविध शरीर।

,, सो सभ सरि भौ मांटी - ये सब सडकर मिट्टी हो गए हैं।

,, पाट - पीठ स्थान। पीढा।

,, छूति लेत धौं काकी - भला छूत किसकी मानते हो।

,, अँचवन - पानीसे मुँह-हाथ धोना।

,, बिबरजित - (वर्जित), मना किया हुआ।

१० चलहु का टेढो टेढो टेढो - टेढे (अभिमानसे अकडकर) क्या चलते हो।

,, दसहुँ द्वार नरक भरि बूडे - दसों द्वार (इन्द्रियाँ) गंदगीसे सराबोर हैं।

,, तू गंधी को बेढो - तू दुर्गंध-का किला है।

,, त्रिस्ना के माते - तृष्णाकी मादकतामें मस्त।

,, बूडि मुयहु - डूब कर मर गए।

,, जारे - जलानेसे।

,, धुरि - धूल।

१० खाई - खाया।

,, सीकर - सियार।

,, चेति न देखु मगुध नर - होशमें आकर देखो न, ऐ मोहमें पडा आदमी।

,, बौरे, तोहिते काल न दूरी - बावला आदमी, काल (मृत्यु) तुमसे दूर नहीं है।

,, धूरी - धूल।

,, घरवा - घर ; मकान।

,, अयाना - अज्ञानी।

,, सयाना - चतुर।

११—गाँठ गठियायो - गिरहमें बाँध लिया।

,, सुरत - स्मृति, याद, ध्यान।

,, कलारी - शराबका रोजगार।

,, मदवा - मदिरा, शराब।

,, ताल तलैया क्यों डोलै - छोटी-छोटी गडहियोंमें क्यों जाए।

,, तिल ओले - तिलकी आडमें (गोदमें)। कहावत— तिलकी आडमें पहाड (छोटी बातके भीतर बडी बात)।

१२—गुजरान - गुजर ; निर्वाह।

,, रहनि - रहन-सहन ; निवास।

,, सबूरी - सब्र ; धैर्य।

१२—कुंडी } भाँग घोंटनेका कटोरा
सोंटा } और नीमका डंडा।

,, मगरूरी - गर्व।

१३—मीत - मित्र।

,, रूखा सूखा रामका टुकडा - जो कुछ मिलता है भगवान ही देता है।

,, सलोना - नमकीन।

,, देले - दान करो।

,, पाय पाय फिर खोना क्यारे - पाकर खोना क्यों (व्यर्थके कामोंमें धन क्यों नष्ट करते हो ?)।

१४—लाट - स्तंभ।

,, संघात - समूह।

,, मेहा - मेघ।

,, दाट - झंझा गतिसे।

१५—झिनी झिनी बिनी चदरिया - पतली-पतली चादर बीनी। (चादर बुनते हुए शरीरकी रचनापर ध्यान जाता है)।

,, ताना भरनी - लम्बे सूतको 'तानी' और चौडेको 'भरनी' कहते हैं—इन्हीं दोनों सूतोंसे कपडा बनता है। इंगला - इडा (चन्द्र) नाडी जो बाँई ओर रहती है।

१५—पिंगला - सूर्य नाडी जो दाहिनी ओर होती है।

,, सुखमन - सुषुम्ना नाडी जो रीढमें होती है।

,, आठ कँवल दल चरखा-अष्ट दल कमल चरखा (चक्र) है।

,, डोलै - चलता है, घूमता है।

,, पाँच तत्त गुन तिनी चदरिया- उस चादर (शरीर) में पाँच तत्व (पृथ्वी, पवन, पानी, आग, आकाश) और तीन गुण (सत्व, रज, तम) हैं।

,, सियत - सीने में ; सृष्टि करने में।

,, ओढि के मैली किनी चदरिया- ओढकर (शरीरका दुरुपयोग कर) चादर मैली कर दी (पापसे शरीरको गंदाकर लिया)।

,, धरि दीनी - धरदी ; सौंप दी, वापस कर दी।

१६—तोहे - तुझे।

,, सोना होय तो सुहाग मँगाऊँ- (सोनाको सुहागा गला देता है।)

,, बंकनाल - सुनारके हाथ की बाँसकी नली।

१६—जंजीर - सिकडी ; चेन ।
,, गढाऊँ - बनाऊँ ।
,, महावत - हाथीको हाँकने वाला ।
,, ऐरण - भाथी ; हथौडा ।
,, धुवन - आग ।
,, धुवाऊँ - आगमें तपाऊँ ।
,, जंतर तार खिंचाऊँ - यंत्रसे पतला तार निकालूँ ।
१७ जूझना-युद्ध करते मर जाना ।
,, मँडा घमसान तहँ खेतमाहीं- उस घनघोर (युद्ध) क्षेत्रमें मँडरावे (डटकर रहे) ।
,, शील औ सोच संतोष साही भये - विनयशीलता, चिंता और संतोष ही उस क्षेत्रके प्रधान वीर हैं ।
,, नाम समसेर तहँ खूब बाजै - वहाँ (राम) नाम रूपी तलवार खूब बजती (चलती) है ।
,, शूरमा - वीर ।
,, कायराँ भीड तहँ तुरत भाजै- कायरोंकी भीड वहाँसे तुरत भाग खडी होती है ।
१८—इस्क - इश्क ; मुहब्बत ।
१८ मस्ताना - मस्त, बेफिक्र रहनेवाले ।
,, दर-बदर - घर-घर, द्वार-द्वार ।
,, इन्तजारी - प्रतीक्षा ।
,, खलक - जीव, संसार ।
,, साँचा - सच ।
,, बेकरारी - बेकली, बेचैनी ।
,, दुईको दूर कर दिलसे - दिलसे द्वन्द्व (भेद-भाव) को दूर कर-दो । संसारकी आत्मासे अपनी आत्माकी एकता करो ।
,, नाजुक - कोमल, पतला, सुकुमार ।

(सूर-सौरभ)

१—राई - राजा ।
,, पंगु - लँगडा ।
,, दरसाई - देख पडता है ।
,, मूक - गूँगा ।
,, पुनि - फिर ।
,, धराई - धारण कर, धरवाकर ।
,, तेहि - उस ।
,, पाई - चरण ।
२ छाँडि - छोड दो ।
,, कहा - क्या ।

२ कागहिं - कौएको।

,, चुगायो - चुगाने (खिलाने) से।

,, न्हवायै - (नहलवाने) स्नान कराने से।

,, अरगजा लेपन-चंदनादि लेपने (लगाने) से।

,, बहुरि - फिर।

,, खहि - धूल।

,, छंग - (उछंग) गोद।

,, रीतौ - खाली।

,, निषंग - तीर (बाण) रखनेका खोल, तरकस।

,, खल - दुष्ट।

,, दूजौ - दूसरा।

३—पहिरि - पहन कर।

,, चोलना - लम्बी पोशाक।

,, नूपुर - पाजेब, पैरका भूषण, घुंघरू।

,, रसाल - रसीला, मीठा।

,, भरम - भ्रम।

,, भर्यो - भरा हुआ।

,, पखावज - मृदंग।

,, फेंटा - साफा।

,, काछि - पहनकर।

,, देखराई - दिखाई।

४—महातम - महिमा, माहात्म्य।

४ ध्यावै - ध्यान करे।

,, पियासो - प्यासा।

,, खनावै - खुदावे। (खोदना, खुदाना)।

,, अंबुज-रस—कमल-रस, मकरंद।

,, करील फल - शाखा-शून्य कांटेदार पेडका नीरस फल।

,, छेरी - बकरी।

५—अपुनपौ आपुन ही बिसर्यो - अपनेको आप ही भूल बैठा।

,, भ्रमि भ्रमि - भ्रमण कर, घूम-घूमकर।

,, दसननि जाइ अरो - जाकर दाँतोंको अड़ाया (टेका)।

,, हरि-सौरभ - कस्तूरी।

,, मरकट मूठि छांडि नहिं दीनी - बंदरने अपनी मुट्ठी नहीं खोली। तंग मुहँवाले बरतनमें कुछ दाने डालकर जमीनमें गाड देते हैं। बंदर उसमें हाथ डालता है, और मुट्ठी बाँध लेता है। मुट्ठी नहीं निकलती है और वह पकडा जाता है।

,, घर घर द्वार फिर्यो - (जिसके कारण) घर-घर द्वार-द्वार उसे (मदारीके साथ) घूमना पडता है।

५ नलिनी की सुबटा कहि कौने जकऱ्यो - कहो, कमलके सूक्ष्म तन्तुसे किसने जकड (बाँध) दिया (यह माया कमल-तंतुकी तरह सूक्ष्म है—आश्चर्य, इसमें आदमी कैसे फँस जाता है?)

६—न्हाहिं - नहाते हैं।

,, तिन्हें - उनको।

,, रसन मध्य समाहिं - रसोंके बीच प्रवेश करते हैं।

,, छिलछिलो - छिछला, (जहाँ जल कम हो)।

,, बिरमाहि - विश्राम लेते हैं।

,, उडियो - उडना।

७—पनहि - प्रणको।

,, इक घर बधिक परो - एक कसाईके घरमें जा पड़ा। (एक ही लोहेकी तलवार दो जगह रहती है)।

,, पारस - स्पर्श मणि (जिसके स्पर्शसे लोहा भी सोना हो जाता है)।

,, खरो - खरा, शुद्ध।

,, एक नदिया एक नार कहावत- एक नदी और एक नाला कहाते हैं।

,, मैलो नीर भरो - (नालेमें) मैला पानी भरा रहता है।

७ सगरो - सब, तमाम।

,, नहिं पन जात टरो - नहीं तो प्रण टला जाता है। ('पतित-उधारन, ही तो तुम्हारा प्रण है न?)

८—परतिग्या - प्रतिज्ञा।

,, टरत न टारे - टालनेसे भी नहीं टलती।

,, पाइँ-पयादे - पावँ-पैदल।

,, भीर - भीड, (संकटोंका आक्रमण)।

,, हाँकत - हाँकना = चलाना।

९—खायो - खाया।

,, पठायो - भेजा।

,, बहिंयन - भुजाओं।

,, छोटी - छोटा (हाथ मेरे छोटे हैं)।

,, छीको - रस्सी या तारकी बनी टाँगनेकी चीज।

,, लपटाये - लिपटा दिया।

,, भोरी - भोली, सूधी, सरला।

,, पतियायो - विश्वास किया।

,, परायो जायो - दूसरेका जना (पुत्र)।

,, लकुट - लाठी।

,, कमरिया - कम्बल।

१०—पिवत भई - पीते हुआ।
,, ह्वै है - होगी।
,, काढत - कंघी करती।
,, गुहत - गूँथती।
,, भ्वै - भूमिपर।
,, लोटी - लोटेगी।
,, काचो - कच्चा (धारोष्ण)।
,, पचि पचि - बडी मेहनत करके। हैरान होकर।

११—दाऊ - दादा (बलदेव)।
,, खिझायो - चिढाया; तंग किया।
,, मोलको - खरीदकर।
,, जायो - जना, पैदा किया।
,, रीझै - खुश होती है।
,, चबाई - ऐंठ-गैंठ कर बोलने-वाला; चुगल खोर।

१२—खंजन - एक चिड़िया जिसके नेत्र बडे सुन्दर होते हैं।
,, मृगज - मृग - छौना। कस्तूरी।
,, पटतर - तुलना, बराबरी।
,, सैन - इशारा। एक कटाक्षसे भी तुलना नहीं हो सकती।
,, राजिव दल इंदीवर - लाल कमल, नील कमल।

१२ कुशेशय - पद्म, कमल।
,, जाति - श्रेणी (कमलकी ये जातियाँ)।
,, मुद्रित - बंद। संपुटित।
,, अरुन असित सित - लाल, श्याम, सफेद।
,, पलक प्रति - प्रति पलकमें, प्रति निमेषमें।
,, आगम कीन्हों आय - आकर आगम (समागम, संगम) किया—तीनों एकमें आ मिलीं।

१३—३५ गोसैयाँ - मालिक, स्वामी।
,, छैयाँ - छाँह में, छाया में। अधीन।
,, जनावत - जताते हो, बताते हो।
,, यातें - इसीसे।
,, गैयाँ - गाएँ।
,, करिल्यौ, नारी - कर लो, अलग। (न्यारी = अलग)।
,, नहिन बसात - नहीं वश चलेगा (कुछ नहीं कर सकोगे)।
,, ठैयाँ - स्थान।

१४—सजनी - सखी।

१४ सुनियत - सुनती हूँ ।
,, निनारे - न्यारे, दूर, अलग ।
,, जोई नैन मग हारे - राह देख-देख (प्रतीक्षा) करके नेत्र थक गए ।
,, करी पिय ऐसी - प्रियने ऐसी (कठोरता) की ।
,, मृतकहु ते पुनि मारे - मरे हुएको फिर मार दिया । (वियोगसे हीं मर चुकी थीं, मिलनकी आशा शेष थी, वह भी अब नहीं रही ।
१५—बई - बोई, लगाई ।
,, पतार - पाताल ।
,, निरुवारौं - छुडाऊँ, हटाऊँ, दूर करूँ ।
,, पसरि छई - फैल गई ।
१६—लह्यौ - पाया ।
,, दह्यौ - जला ।
,, अलिसुत - भ्रमर, भौंरा ।
,, जलसुत - कमल ।
,, संपति हाथ गह्यौ - संपत्ति हाथमें कर ली । सर्वस्व हर लिया ।
,, सारंग - मृग ।
,, दूनौं - दोनों ।

१७—ऊधो - उद्धव (कृष्ण-सखा) ।
,, ते अंखियां हम लागी - हमारी आंखोंने उन आंखोंको देखा ।
१८—घनसार - कपूर ।
,, संजीवनि - संजीवनी जड़ी ।
,, दधिसुत - चंद्रमा ।
,, भुंजैं - भूंजने (दग्ध करने) वाली । भूँजती है ।
,, विरह-करद कर मारत लुंजैं - विरह - सूर्यकी किरणें लू मारती हैं ।
,, विरह-करद कर मारत लुंजैं - विरहरूपी सूर्यकी किरणें मार मारकर लँगडा बना चुकी हैं ।
,, मग जोवत - (मार्ग जोहना), प्रतीक्षा करते-करते।
,, बरन - (वर्ण), रंग ।
१९—परतीति-(प्रतीति), विश्वास ।
,, ह्वै न गये घनश्याम मई - घनश्याम (कृष्ण) मय नहीं हो गए ।
,, याते - इससे ।
,, मेचक - श्याम ; अँधेरा ।
,, सो करनी कछु तौ न भई - वह काम (अपने विशेष

गुणोंका उपयोग) तो कुछ भी नहीं हो सका ।

१९—समय गयी नित सूल नई - समय बीत जानेपर नित्य नई पीडा होती है ।

,, याही तें - इसीसे ।

,, जबतें पलकन दगा दई - जबसे पलकोंने दगा (धोखा) दी । (नेत्रोंको ढँक लिया—उडने नहीं दिया) ।

२०—दुखारी - दुःखिनी ।

,, हूँकति लीने नाउँ - नाम लेते ही हूँकती (रंभाती) हैं ।

,, गो दोहन - गायका दुहना ।

,, पछार - पछाड खाना (जमीनपर लोटना) ।

,, काढि - निकाल ।

२१—निर्गुन कौन देस को बासी - निर्गुण (ब्रह्म) किस देशका निवासी है ।

,, मधुकर हँसि समुझाय - मधुकर (कृष्ण-सखा) हँसकर समझाओ ।

,, न हाँसी - हँसी नहीं (दिल्लगी नहीं)

,, रचि पचि - बना बनाकर, सँवार-सँवारकर ।

२१—सगुन-सुमेरु - साकार (भगवान) रूपी सुमेरु पहाड ।

,, दुरावत - छिपाते हो ।

,, रेख - रेखा (रूप-रेखा)।

,, बंकट - (बक्र) टेढी ।

,, देख्यो - देखा ।

,, त्रिभंग - तीन जगह मोडकर ।

,, तुमको सोउ मोहत-क्या वह तुमको भी मुग्ध करता है ?

,, माते - मत्त, मस्त ।

२२—अतिसै - (अतिशय), अधिक ।

,, अनियारे - नुकीला, तीक्ष्ण, बडे बडे ।

,, पल-पिंजरा - पलक रूपी पिंजडा ।

,, ताटंक - कर्णफूल ।

,, फँदाते - कुदाते । जालमें फँसाते ।

,, नातरु - नहीं तो ।

२३—जोग - योग्य ।

,, सनक - एक ऋषि ।

,, हंससिव - हंस रूपी शिव ।

,, ससिडर - (शशि) चंद्रमाका डर ।

,, निगम - वेद ।

,, सर - सरोवर ।

२३—इहाँ कहा रहि कीजै - यहाँ रहकर क्या करना है।

,, छीलर-छिछला गड्ढा, तलैया।

तुलसी-तरंग.

(विनय पत्रिका)

१—जगवन्दन - जिसकी सारा संसार वंदना करता है।

,, संकर-सुवन - (शंकर-सुत) महादेवका पुत्र।

,, मोदक-प्रिय - मिठाई जिस को पसंद है।

२—या - इस।

,, ओसकन - (ओस-कण) ओस की बूँदें।

,, तृषित जानि मति घन की - प्यासके मारे अपनी बुद्धिसे उसे मेघ जानकर।

,, गच (काँच) - पक्का फर्श, (शीशेका बना हुआ पक्का फर्श जिसमें मुख दीखता हो।

,, सेन - बाज, (श्येन पक्षी)।

,, जड - मूर्ख।

,, छति - क्षति, नुकसान।

,, बिसारि - भूलकर।

,, कहँलौं - कहाँतक।

३—नसानी - नष्ट हुई

,, नसै हौं - नष्ट नहीं करूँगा।

३—राम-कृपा भव-निसा सिरानी- रामचन्द्रकी कृपासे संसार (अज्ञान) रूपी रात बीत गई (अज्ञान मिट गया)।

,, डसै हौं - बिछाऊँगा।

,, चिन्तामनि - (चिन्तामणि) रत्न-विशेष।

,, उर करते न खसैहौं - हृदय रूपी हाथसे नहीं गिराऊँगा।

,, कसौटी-सुवर्ण-परीक्षक पत्थर।

,, कसैहौं - कसाऊँगा। (पत्थर पर रखकर जाँचूँगा)।

,, इन्द्रिन - इन्द्रियाँ।

,, निज वस ह्वै न हँसैहौं - स्वाधीन होकर नहीं हँसा जाऊँगा। (जबतक पराधीन था इन्द्रियाँ हंसी उडाती थीं मूर्ख राजाके मंत्रियोंकी तरह)।

,, प्रन करि - प्रण करके, प्रतिज्ञा करके, दृढताके साथ।

४—कहि न जाइ का कहिये-(कुछ) कहा नहीं जाता है, क्या कहा जाए।

,, सून भीति - शून्य पट (अंतरिक्ष रूपी कागज)।

,, तनु बिनु लिखा चितेरे - विना शरीरवाले चित्रकारने लिखा

(रचा) । (निराकार ईश्वरने विना किसी दृष्ट सामग्रीसे सृष्टि की)।

४—धोये मिटै न मरे भीति दुख- धोनेसे मिटता नहीं और मृत्यु-दुख (रहता है) । (साधारण रंगीन चित्र धोनेसे धुल जाता है, जड होनेके कारण उसको कोई दुःख नहीं होता, पर ईश्वरकी सृष्टि उलटी है) ।

,, हेरे - देखनेसे ।

,, रविकर नीर - सूर्य-किरण (रूपी) जल, मृग-जल ।

,, ग्रसै - पकड लेता है ।

,, जुगल प्रबल करि माने - (कोई) दोनोंको मुख्य मानता है । (कोई कोई दार्शनिक इस जगत् और जगदीश्वर दोनोंकी प्रधानता मानते हैं)।

,, तीनि भ्रम - तीनों ही वाद भ्रम हैं । (तीनों ही गलत रास्तेपर हैं) ।

५—ग्रन्थि - (अज्ञानकी) गाँठ ।

,, कराह - (कडाह) पूरी पक्वान्न बनानेका बर्तन विशेष ।

५—कल्पसत - सौ कल्प । (अनेकों युग पर्यन्त) ।

,, औंटत नास न पावै - औंटते (उबालते) रहनेसे भी नष्ट नहीं होता ।

,, तरु-कोटर महँ - वृक्षके कोटर (खोखले) में ।

,, पखारे - धोनेसे ।

,, बलमीकि - बाँबी, बिल ।

६—हाते करि - छोडकर ।

,, सगाई - संबंध, नाता ।

,, गरुआई - अधिक ।

,, बिसराई - भूलकर ।

,, पहुनाई- आतिथ्य, मेहमानी ।

,, तहँकहिं - वहाँ कहीं (किसी की बडाई नहीं की, सिर्फ यही कहा कि) ।

,, सिरनाई - सिर नवा (झुका) कर ।

,, मीत - मित्र ।

,, तौं - तब ।

७—कबहुँक हौं येहि रहनि रहौंगो क्या कभी मैं इस रहन-सहन से रहूँगा । (क्या कभी मैं इस पथ पर चलूँगा ?)

,, गहौंगो - गहूँगा, पकडूँगा ।

,, जथा-लाभ संतोष - जो कुछ मिले, उसीमें संतोष हो ।

७—तेहि पावक न दहौंगो - उस आगमें नहीं जलूँगा।

,, पर गुन, अबगुन, न कहौंगो - दूसरेकी बडाई करूँगा, पर शिकायत नहीं।

८—कंत - पति।

,, मनियत - मानना चाहिए, माना जाता है।

,, जहाँ लों - जहाँ तक।

,, अंजन कहा आँखि जेहि फूटै - वह अंजन क्या जिसके लगाने से आंखही फूट जाए। (उस नातेदारी से फायदा क्या जिस से मायामें भूले रहें।)

,, एतो मतो हमारो - यही मेरी सम्मति है, मेरा सिद्धान्त है।

९—करिये - किया जाए। करूँ।

,, हारि हिय मानि जानि डरिये - जानकर, हृदयमें हार मानकर डरना पडता है। (जब सोचता-विचारता हूँ, तब दिल बैठ जाता है और परिणामके डरसे काँप उठता हूँ।)

,, द्रवहु - पिघलो, दया करो।

,, सो हठि परिहरिये - उसको हठके साथ छोड देता हूँ।

,, जाते - जिससे।

९—भवनिधि परिये - संसार-सागरमें पडते हैं।

,, बलते - बलसे भरोसे।

,, संसार-सोग - संसारका शोक।

१०—केहि - किसको।

,, ममु-मेरे।

,, तहँ - वहाँ।

,, चोरा - चोर।

,, बर-जोरा - जबरदस्ती।

,, निहोरा - प्रार्थना, अनुनय।

,, बोध-रिपु - ज्ञानके शत्रु।

,, मरदहिं - मर्दन करते हैं; कुचलते, रौंदते हैं।

,, बटपारा - चोर, (राहजनी करनेवाले)।

,, उबारा - बचाव, रक्षा।

११—सरन - शरण।

,, निवाज - कृपा करनेवाले।

(कवितावली)

१२—सकारे - सबेरे।

,, सुत गोद कै भूपति लै निकसे - राजा दशरथ बेटेको गोदमें लेकर निकले।

,, ठगिसी रही, जे न ठगे धिक से - मैं ठगी-सी रही, (मानों मेरा सर्वस्व किसीने छीन लिया हो) और जो न ठगे गए

उनको धिक्कार (अर्थात् ऐसे मन-मोहनसे ठगा जाना ही श्रेयस्कर है)।

१२—सु-खंजन-जातक - सुन्दर खंजन पक्षी का बच्चा।

,, सजनी ससि में समसील उभै - हे सखी, चन्द्रमामें समान शीलवाले दो।

,, नव नील सरोरुह से विकसे - नए नील कमलके समान विकसित हैं। (रामचंद्रका मुख चन्द्रमा और उनके नेत्र नील कमल)।

१३—बरदंत - सुंदर दाँत।

,, खोलन - खोलनेकी रीति।

,, अमोलन - अमूल्य।

,, घुंघरारि - घुंघुराले, टेढे-मेढे।

,, निवछावरि- निछावर, उत्सर्ग।

,, लला - हे लाल।

,, बोलन - बोलनेकी रीति।

१४—दये - दिए; डाले; रखे।

,, डग - कदम, पैर।

,, कनी - कण।

,, पट सूखि गये मधुराधर वै - सुकुमार होठों के पट (ऊपरी भाग) सूख गए। (धूप और प्यास के मारे होठ कुम्हला गए)।

१४—'चलनो अब केतिक' और कितना चलना है?

,, कित - कहाँ, किधर।

,, च्वै - चूकर।

१५—परिखौ - प्रतीक्षा करो।

,, घरीक-एक घडी; थोडी देर।

,, पसेउ - पसीना।

,, बयारि - वायु (करना), पंखा (झलना)।

,, पखारिहौं - धोऊँगी।

,, भू भुरि - गर्म धूल या राख या रेत।

,, डाढे - दाह-दग्ध। (गर्म धूलकी गर्मी से जले हुए)।

,, बिलंब लौं - देर तक।

,, काढे - निकालते रहे।

,, नाहको - नाथका।

१६—सुठि - (सुष्ठु) सुंदर।

,, सौहैं - सोहता है।

,, त्यों - उस तरह।

,, साँवरे - (श्यामल) श्याम रंगवाले।

,, रावरे - आपके, तुम्हारे।

१७—सुधारस-साने - अमृत-रसमें मिश्रित।

१७—सयानी हैं जानकी जानी भली - जानकीजीने अच्छी

तरह जान लिया कि (ये स्त्रियां बडी सयानी (चतुर) हैं।

१७—अली - सखी, भ्रमरी।

१८—पवि - वज्र।

,, कह्यो तियो को जिन कान कियो है - स्त्री के कहने को कान किया (स्त्री की बात सुनी है)।

,, राखिबे - रखने।

,, किमिकै - किस तरह।

१९—परसे - स्पर्श करने से, छूने से।

,, पगु धारे - पधारे, आए।

२०—बटोरि - जमा करके।

,, बोरि-बोरि - डुबो-डुबोकर।

,, तमीचर - राक्षस।

,, खोरि-खोरि - गली-गली से।

,, वेसो - वैसे ही।

,, कौतुकी - खेलाडी, लीला-प्रिय।

,, डरात ढीलो गात कैकै - शरीर को शिथिल करके डरने का बहाना करते हैं।

,, जी में कहैं 'कूर हैं' - मन में कहते हैं—'ये कैसे कूर हैं?'

,, तारी दै दै - ताली देदे कर।

२१—तूर - तुरही।

,, बालधी - पूँछ।

,, ठौर ठौर दीन्हीं आगि - जगह-जगह आग लगा दी।

,, बिंधकी दवारी, कैधों कोटिसत सूर हैं - विंध्याचल पर दावाग्नि लगी, या सौ करोड सूर्य उगे हैं।

२१—धीय - बेटी।

,, माय - माता।

,, छूटे बार - खुले केश।

,, बारे - लडके।

,, घहरात - घहरते हैं।

,, ठेलिपेलि - ठेल-पेलकर, ढकेल-ढकालकर।

,, रौंदि-खौंदि - पैरों से रौंद-खौंद।

,, चिलात - चिल्लाते हैं।

,, बिललात - व्याकुल होकर विलाप करते हैं।

,, तौंसियत - आँच।

,, झौंसियत - आग की लपट।

,, झारहीं - झुलस गए।

२२—जालमाल - ज्वाला समूह।

२२—कौन काहिरे - कौन किसको।

,, ललात - तरस रहे हैं।

२२—बिललात - व्याकुल होकर मारे-मारे फिरते हैं।

,, पाइमाल - नष्ट होना।

,, पराहि - पलाओ, भागो।

,, लेहि दस सीस अब बीस चख चाहिरे - दस सिरवाले (रावण) लो, अब बीस आँखों से (अपनी करनी का फल) देख लो।

(रामसतसई)

२३—जीह देहरी - जीभ रूपी चौखट।

२४—वारि-विकार - जलरूपी दुर्गुण।

२५—आस - (आशा) लालच।

,, तीनकर - तीनोंका।

२७—संत सुअंब - साधु रूपी रसाल (आम का पेड)।

,, इतते - इधर से।

,, उतते - उधर से।

२८—सूर समर करनी करहिं - (जो) शूरवीर हैं वे समर-भूमि में अपना पराक्रम दिखलाते हैं।

,, कहि न जनावहिं आप - खुद अपनी बडाईका ढोल नहीं पीटते।

३०—काया - शरीर।

,, बुबै - बोवेगा।

,, लुनै - काटेगा।

३२—पपीहरा - पपीहा, चातक।

,, कै जाँचै घन स्याम सों कै दुःख सहै सरीर - या तो वह आकाश - व्यापी श्याम मेघ से (पानी) माँगता है (ऊँचपर ही दृष्टि रखता है) या अपने शरीर को कष्ट देता है।

३३—नाइ - नीचा करके, नवाकर।

,, माँगनहि - मंगन को, माँगने-वाले को।

,, को बारिद बिनु देइ - मेघ को छोड कर और कौन देगा। (अर्थात् मेघ के ऐसे ऊँचे और उदार दाता ही दे सकते हैं)।

३४—फबै - शोभित होगा।

३५—मते - मत के अनुसार।

,, धूर - धूल।

३७—जल पिये मो पन जाय - पानी पी लेने से मेरा प्रण चला जाएगा।

३८—इनको भलो मनाइबो - इनको अच्छा समझना।

(रहीम सतसई)

१—अमी - अमृत ।

,, रतनार - लाल ।

२—कहुँ किन जाहिं - कहीं भी क्यों न जाए ।

३—अमर बेलि - विना जडवाली एक लता ।

४—हरि रहीम ऐसी करी - भगवानने ऐसा (अनर्थ) किया ।

,, ज्यों कमान सरपूर - जिस प्रकार धनुषपर बाण चढाकर ।

,, खैंचि - खींच कर ।

५—पच्छ - पंख ।

६ केर - केला ।

,, डोलत - झूलते हैं ।

,, फाटत - फटता है ।

७—खीरा…सजाय - खीरा का मुँह काटकर फिर नमक डालकर मलते हैं (ऐसा करने से उसका कडुवापन चला जाता है) उसी प्रकार जिनका मुँह कडुवा है (जो कडवी बातें बोलते हैं) उनकी यही सजा होनी चाहिए ।

८—लोन - नमक ।

९—पुरुष पुरातन की बधू - पुराने (बूढे) पुरुषकी स्त्री है (बूढे की नवेली स्त्री चंचला होती ही है) ।

१०—रीते - खाली रहनेपर ।

,, भरे बिगारत डीठ - भरे रहने पर नजर बिगाड देता है (पेट भरे रहने पर ही पापी नयन दौडते हैं) ।

११—कृष्ण मिताई जोग - क्या सुदामा कृष्णकी मित्रताके पात्र थे ।

१४—धनि रहीम जल पंक को - पंक (कीचड) में लगा जल (गडहेका पानी) ही धन्य है ।

,, लघु जिय पियत अघाय—छोटे-छोटे जीव भी पीकर अघाते हैं ।

१५—नर धन हेत समेत - आदमी स्वार्थवश धन देता है ।

१६—ढरि - गिर कर ।

,, करेइ-कर देता है ।

,, कस न - क्यों नहीं ।

१७—गोय - छिपाकर ।

,, इठलैहैं - इठलाएँगे, गर्वसे दिल्लगी करेंगे ।

१८—मुए - मर गए ।

१८ निकसत - निकलता है ।
,, पानी - मर्यादा, आब ।
,, ऊबरै - उबरेंगे, बचेंगे ।
,, मोती मानुस चून - मोती, मनुष्य और चूना । (इनका पानी रहनेपर ही मान होता है) ।
२०—खैर खून खाँसी खुशी - कत्था, नर-हत्या, दमेकी बीमारी और खुशी ।
,, वैर प्रीति मधुपान - शत्रुता, प्रेम और शराब पीना ।
,, जहान - संसार ।
२१—गाढे दोउ काम - दोनों काम मुशकिलमें पड गए । (दोनों में एक भी सफल नहीं होता है) ।
,, साँचे से तो जग नहीं - सच कहनेसे सांसारिक काम नहीं चलता है ।
,, झूठे मिलै न राम - झूठसे ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती है ।
२३—जती जोखिता जान - योगी योगीपनकी प्रशंसा करता है (अपने अपने सांप्रदायिक पथकी बडाई करते हैं) ।
२४—छिमा - क्षमा ।
,, घट्यो - घट गया ।
२५—दादुर - मेढक ।
२६—पैडा - रास्ता, पथ ।
,, सिलसिली - चिकनी ।
,, गैल - गली ।
,, बिछलत - फिसलता है ।
,, पिपीलि - चींटो ।
२८—धागा - डोरा, सूत ।
,, चटकाय - छिटकाकर, झटकेसे ।
,, गाँठ - गिरह ।
२९—बावरी - बावली ।
,, कहिगै सरग पताल - आकाश-पातालकी (लंबी - चौडी) बातें बक गई ।
३१—ओछे - तुच्छ ।
,, प्रीत - प्रेम ।
,, काटे चाटे स्वान के - कुत्तेके काटने या चाटनेसे (दोनों तरह शरीरकी हानि होती है) ।
३२—प्रानन बाजी राखिये - प्राणों को होडपर रखना चाहिए (प्राणोंकी ममता छोडकर प्रेम करना चाहिए) ।

३३—बरु - भले ही। चाहे।
,, मरिबो - मरजाना।
३४—बिलगाय - अलग होकर।
,, मीत - मित्र।
,, भीर परे ठहराय - भीड (आपत्ति) पडनेपर जो साथ दे।
३५—पोइये - गूँथिए।
३६—दुरै - छिपे।
,, जरु - जलें (जला करें)।
,, दोय - दो।
३७—स्वाति एक गुण तीन - स्वाति एक है, लेकिन उसके तीन गुण हैं (एक ही वस्तुके अवस्था भेदसे तीन प्रभाव पडते हैं)।
३८—जदपि गुरायसु गाढ़ि - यद्यपि अकाट्य गुरु-आज्ञा हो।

(बरवै नायिका भेद)

३९—खीन मलिन विष भैया - (क्षीण) पतला, मलिन (दिन में), विषका भाई (विष भी चन्द्रमाके साथ ही पैदा हुआ)।
,, औगुन तीन - तीन अवगुण हैं (चन्द्रमामें)।
४०—अमरैया - आमका बाग।
४० कोइलिया - कोयल।
,, जाइ - जाती है।
४१—खेलत जानिसि टोलवा - मंडलीको खेलते हुए जानकर।
४२—टटिऔ - टट्टी।
,, सिरहनवाँ - सिरके नीचे।
,, सुख कै लूटि - सुखकी लूट।
४३—बालम - प्रियतम पति।
,, मिलयउं - मिल जाऊँ।
,, जस - जैसा।
४४—चखन - नेत्र।
,, कटि तट बिच मेला - कमरमें बाँधा।
,, पीत सेला नवेला - नवीन पीला रेशमी चादर।
,, अलबेला - बनाठना, सुंदर।

रामचन्द्रिका (धनुषयज्ञ)।

१—सबन - सबोंने।
३—राकस - राक्षस।
,, को - कौन (यह दस सिरवाला राक्षस कौन है ?)।
,, दैयत - दैत्य (यह हजार भुजाओंवाला दैत्य कौन है)।
४—कितै - किधर, कहाँ।
,, टूक द्वै तीन कै - दो तीन टुकडे करके।

६—गिरिराजते गुरु जानिये - हिमालयसे भी भारी समझो।

,, सुरराजको धनु हाथ ले - महादेवका धनुष हाथमें लो।

,, चढायकै - चढाकर (धनुषमें गुण डालकर)।

७—अद्यापि आनी न - अभी तक लाया नहीं।

,, रे बंदि कानीन - रे कन्यासे पैदा होनेवाला बंदी।

८—जुपै - यदि।

,, कोरि - करोड।

९—अखर्ब - बहुत बड़ा।

,, पर्वतारि - इन्द्र।

,, सुपर्व - देवता।

,, अंगना - स्त्री।

,, आशु - शीघ्र ही।

,, जलेश - वरुणेश।

,, पाशु - फाँसी, कमंद।

,, दंडक में - एक दंडमें।

,, कालदंड - यमराजकी गदा।

,, कालखंड - (समयको खंडन करनेवाला) ईश्वर।

,, कोदंड - धनुष।

,, विषदंड - कमलकी नाल।

९ विडंबना - लज्जाकी बात।

,, अति असार भुजभार - अत्यन्त निस्सार भुजाओंके भार से ही।

,, विधान - काम।

१२—पितापद - (पातालमें रहनेवाले बलि बाणासुरके पिता हैं)।

,, पाप-पणासी - पाप-विनाशक।

,, विलासी - रहनेवाले।

,, उसासी - दम लेनेकी फुरसत।

१३—हुते - होते; थे।

,, ल्यावतें - ले आते।

१४—ओक - घर।

१५—मुर - एक दैत्य विशेष।

,, अदेव - दानव।

,, बलि पै - बलिके आगे।

,, पसार्यो - फैला दिया।

१६—कहि देइगो - कह देगा (फैसला कर देगा)।

,, मदन-कदन-कोदंड - मदन-संहारक महादेवका धनुष।

१७—वृत - वार्ता, बातें।

१८—करपि हैं - खींचेंगे।

१९—करतारो-कर्त्ताकी, ईश्वर की।

,, सूरन के मिलिबे कहँ आय - मैं तो शूर - वीरोंसे मिलने

आया था । (धनुष उठाने नहीं) ।

१९—गारी - गाली ।

२१—किधौं - अथवा ।

,, मदनासन - (मद-नाशन) घमंड तोडनेवाला ।

२२—बरैंगे - ब्याह लेंगे ।

,, हैहयराज - सहस्रार्जुन (इसने रावणकी फजीहत की थी) ।

२३—भँवत - मँडराते थे ।

,, सघन - अनेक ।

,, शर्ब - शिव ।

२५—पीसजहु - पीस डालो ।

२६—केहूँ न छांडत भूमि रती को - किसी प्रकार रत्ती-भर भूमि भी नहीं छोडता है ।

२८—माय - माता ।

,, सचुपाय - प्रसन्न होकर, चुप-चाप ।

२९—तौलगि - तब तक ।

,, नेम - प्रतिज्ञा ।

,, जनको - सेवकको ।

,, हते - चोट लगनेकी तरह ।

३०—आसर - असुर, राक्षस ।

३१—अनंग - विदेह जनक ।

(रसखान-सुधा)

१—ग्वारन - ग्वालों ।

,, बसु - वश, उपाय ।

,, पुरंदर - इन्द्र ।

,, डारन - डालों, (शाखों) ।

२—तिहूँ - तीनों ।

३—आयो हुतो नियरे - पास आई होती ।

,, ठैंया - स्थान ।

,, सिगरी - समस्त, सब ।

,, वारति - निछावर करती हैं ।

,, कानि - परवाह (कान करना= सुनना, ध्यान देना) ।

,, चेटक - जादू-टोना ।

,, जू - जो ।

,, जदुरैया - यदुराज कृष्ण ।

४—पचि - उद्योग करके ।

,, छोहरियाँ - छोकरियाँ, लड-कियाँ ।

,, छछिया - छोटासा बर्तन ।

५—पैंजनी - पैरके घुंघरू ।

,, पीरी - पीली ।

,, कछोटी - कछनी ।

,, वारत - निछावर करते हैं ।

६—फँदे - फँसे हुए ।

,, कुलकानि - कुलकी मर्यादा ।

६—कढेसे - अंकित-से (मानों तस्वीर निकाली गई है)।

,, न बैन कढै - नहीं वाणी निकलती है। (बोल नहीं फूटता)।

७—अटा - अटारी।

(प्रेम वाटिका)

१०—छानिकै - छानकर, पीकर।

,, जलधीश - वारिधिपति, वरुण (वारुणी मदिराका भी नाम है और वरुणकी स्त्रीका भी)।

११—छीन - (क्षीण) पतला।

,, सूधो - सीधा, सरल।

(विहारी-विहार)

१—नागरि - चतुर।

,, झाँई - परछाँहीं।

२—काछनी - चुस्त धोती।

,, बानिक - वेष।

,, मग - मार्ग।

४—सुरभि - सुगंधित।

,, ह्वै - होकर।

,, वा - उस।

५—जुरे - (जुडे) मिले।

,, सनेह - स्नेह।

,, वृषभानुजा - वृषभ + अनुजा= बैलकी बहन।

५ हल धर के बीर - हलधर= बैल; वीर = भाई।

६—नन्दित करी - आनंदित किया।

७—सलोने - सुन्दर।

८—किती - कितनी।

,, काहि - किसको।

९—डीठि - (दृष्टि) नजर।

१०—भीजे - भींग गया।

,, चहले - दलदल, कीचड।

,, नै-बै - नदी-रूपी वयस (वयःक्रम)।

११—बूडे - डूब गये।

१२—कुटुम - कुटुम्ब।

,, जुरत - (जुडता) मिलता है।

,, दई - दैव, ईश्वर।

१३—बँध्यो - बँध गया।

,, हवाल - दशा।

१५—पगार - गडहा, खाई।

१६—चटक - चमक।

,, बरु - चाहे, भले ही।

,, चोल-रंग - चोल (लकडी) का रंग।

१७—हुलसे - (उल्लसित) फूले।

,, पोत - स्वभाव।

१८—जात·······मोष ॥ - जिस प्रकार वित्त (धन) जाते-

जाते चित्तमें संतोष होता है (कि ईश्वरकी यही इच्छा है), उसी प्रकार जो उसके (धनके) होते-होते (संचित होनेके समय) संतोष हो (कि ईश्वर जो देगा, वही मिलेगा, इसके लिए हाय-हाय क्यों?) तो घडी भरमें मोक्ष प्राप्त हो जाए।

१९—मीत - मित्र।
,, गलीत ह्वै - दुर्दशामें पडकर।
,, जोरि - जमा करके।
,, जुरे - बचे, जमा हो सके।
,, करोरि - करोड।
,, कनक - सोना। धतूरा।
,, बौराइ - बावला होता है।
२१—बहार - शोभा।
,, अपत - (अपत्र) विना पत्तेकी।
,, डार - डाल, शाखा।
२३—पाँखि - पंख ही।
,, सपर - पंखवाली।
,, पुहुमि - पृथ्वी।
२५—सरै - (सरता) निकलता है।
,, काँचे - कच्चा ही।
,, राँचै - रीझता है।
२६—टेरत - पुकार (रहा हूँ)।
,, जग बाय - जगतकी हवा, लोक-रीति।
२७—बिसराई - भुला दी।
,, बानि - आदत।
२८—तोप - संतोप।
२९—भजत - भागते हैं।
,, चंग रंग - पतंगकी तरह।
३०—नल-नीर - नलका पानी।
,, जेतो - जितना।
३१—कहलाने - व्याकुल हुए।
,, अहि - साँप।
,, दीरघ-दाघ - भीषण ताप-वाली।
,, निदाघ - गर्मी।
३२—रुनित - गूँजते हुए।
३३—तर्‍यौना - तरौना (एक भूषण जो कानमें पहना जाता है)। तरा नहीं (मुक्त नहीं हुआ)।
,, नाक-बास - नासिकाका निवास। स्वर्ग निवास।
,, बेसर - नाकका भूषण-विशेष।

भूषण-गर्जन (श्रीगणेश-स्तुति)।

१— करन-विजना - (कर्ण-पंख) पंखेके समान जिनके कान हैं।

१—कोकनद - कमल ।

,, अन्हाइये - नहाइए ।

,, गंजन - नष्ट करनेवाले ।

,, डाढी के रखैयन - दाढी रखनेवाले (मुसलमानों) ।

,, डाढी-सी रहति - जलती-सी रहती है ।

,, जस-हद्द - यशकी सीमा ।

,, कढि - निकल ।

,, ठसक - शेखी (गर्व) ।

,, चंडी - कालिकादेवी ।

,, चबाय - खाकर ।

,, खोटी भई - नष्ट हुई ।

,, 'चकत्ता' - औरंगजेब बाद-शाह ।

३—जम्भ - महिषासुरका पिता जिसको इंद्रने मारा था ।

,, सुअम्भ - पानी, समुद्र ।

,, सदम्भ - अभिमानी ।

,, पौन - पवन, हवा ।

,, बारिबाह - बादल ।

,, रतिनाह - कामदेव ।

,, द्रुमदण्ड - पेडकी डाल ।

,, वितुण्ड - हाथी ।

,, अंस - (अंश) भाग ।

३—मलिच्छ - (म्लेच्छ) मुसल-मान ।

४—घोर मंदर - ऊँची अटारियाँ । ऊँचे पहाड ।

,, अंदर - कोठरी, गुफा ।

,, कंद मूल - मिष्टान्न । शकरकंद वगैरह ।

,, बीन - बीन (चुन) ।

,, भूषण शिथिल अंग - गहनों के बोझके कारण जिनका अंग शिथिल (भाराक्रान्त) था । (अब) भूखों रहनेके कारण (उनका) अंग शिथिल (ढीला कमजोर) हो रहा है ।

,, विजन डुलाती - जो पंखा झलती रहती थीं । (वे अब) जंगलोंमें डोलती फिरती हैं ।

,, नगन जडातीं - जो नगों (रत्नों) से जडी हुई थीं (वही अब) नंगी थरथर काँपती हैं (कपडे न होनेसे जाडा सताता है) ।

नोट—यह पद यमक अलंकारका अच्छा उदाहरण है ।

५—सोंधे को अधार - सुगंध ही जिनका जीवन आधार है ।

५—चार को सो अंक लंक - चार के अंक (४) (मध्यभाग) के समान (जिनकी पतली) कमर है।
,, पायन - पैरों।
,, आछे - अच्छे, उत्तम।
,, पिछौरा - चादर।
५—निचोरि मुख - मुखमें निचोड़कर।
६—भो - हुए।
,, सिगरे - सब।
,, मिलिन्द - भौंरा।
७—देवल - देवालय।
,, सब गये लबकी - सब लपक (भाग) गए।
,, सिधाई - सिद्धता (महत्व)।
,, रब - मुसलमानोंके ईश्वर, खुदा।
,, कला - ज्योति।
,, सुरति - सुरत।
,, मीड़ि - मीज।
,, मरोरि - तोड़-मरोड़कर।
,, पातसाह - बादशाह।
,, पीसि - पीसकर।
,, हद - सीमा।
,, तेग-बल - तलवारके बलसे।

भारतेन्दु-चन्द्रिका

(दोहा)

२—अथोर - अधिक।
३—लहन - लेना।

(दुखिया अँखियाँ)

७—औध - अवधि, आयु।
,, याते - इसीसे।
,, जौन - जहाँ।
,, तहीं - वहीं।
८—पाग-पेंच - पगड़ीकी लपेट।
,, हलकत - लटकती हुई।
,, निवारी - हटाकर, उतार कर।
,, बानो - वेष।
,, जुगुओ - देखो।
९—पत - प्रतिष्ठा।
,, नाऊँ - नाम।
,, जनाऊँ - बताऊँ।
,, मरमिन - मर्म जाननेवाली।
,, पटुका - कमरबंद, चादर।

(स्नेहकी निशानी)

१०—जकी - चकित।
,, मोदक सो खायो मन—मन-ही-मन प्रसन्न।
,, उमेह - उमंग।
,, खिसानी - क्रोधित।

(यमुना-छवि)

११—तमाल—सदा हरा-भरा वृक्ष-विशेष।

,, उझकि - झुक-झाँककर।

,, प्रनवत - प्रणाम करता है।

,, सिमिटि - एकत्र होकर।

,, नै - झुक।

१२—सैवालन (शैवाल) जलमें उगनेवाली घास, सेंवार।

,, गोभा - गोभी।

,, ढिग - निकट, पास।

१३—बगरे - फैले, छितराए।

,, भौन - भवन।

,, सतधा - सौ धाराओंमें।

१४—ओभा - आभा, कान्ति।

,, नभ-तीर—क्षितिज, दिगन्त-रेखा।

१६—दुरि - छिपकर।

,, डोर - डोल, चंचल।

,, गुडी - गुड्डी, पतंग।

,, अवगाहत - नहाती।

१७—सिढी - सीढी, सोपान।

,, बगराये - फैलाए, छितराए।

,, चिकुरन - सिरके बाल।

,, परसि - स्पर्शकर।

(प्रभाती)

१८—उनमूले - (उन्मूलन = जडसे उखाड फेंकना) नष्ट कर दिया।

,, सूत—पुराण-पाठक।

,, चिरैयन - चिडियाँ।

,, कल - सुन्दर।

,, रोर - शब्द।

,, चटकीं - खिलीं।

,, अंगुरिन - उंगलियाँ।

,, तोखौ - तुष्ट करो।

,, पोखौ - पोषण करो।

(श्मशान रूपी संध्या)

२०—पच्छिन - पक्षी-वृन्द।

,, लोगाई - लुगाई, स्त्री।

,, हाड - हड्डी।

२१—रुरुआ - बडी जातिका उल्लू।

,, ररत - बोलता है।

,, हडगिल्ल - पक्षी-विशेष।

(मृत्युलीला)

२२—माटी - मिट्टी।

२३—उचारत - उछालता है।

,, मोद मढ्यो—मोद-मंडित, बढा।

,, जिजमान - यजमान।

२५—रकत - (रक्त) लोहू।
,, बसा - (बसा) मेदा, चरबी।
२६—कादर - कायर, डरपोक।
२७—पारें - समर्थ होते हैं।
,, जुडानी - शीतल हुई।
,, बच - वचन।
,, टेका - प्रण।
,, सुबाये - सुला दिया।
,, न सहारे - सहन नहीं किया।
,, हेरी - देखी।
,, तिन केरी - उनकी।
,, कोर - कोना।
,, कफन-मुर्देको ढाँकनेका कपडा।
,, गने - गिना, हिसाब किया।
,, बिकाने - बिके।

(भारत जय)

२८—परिकर - तैयारी।
,, आरजगन - आर्य-गण।
,, मँझारी - मध्यमें।
,, चिउँटिहु - चींटी भी।
,, मारू - जुझाऊ।
,, धौंसा - डंका।
२८—थहराहीं - काँपते।
,, ठनकहिं - टंकार-से बजते हैं।
,, बखतर - कवच।
२८—हींसहिं - हिनहिनाते हैं।
,, झनकहिं - झन-झन करते हैं।
,, चिक्करहिं - चिग्घाडते हैं।

(चयनिका)

१—सूरे - सूर्य।
१—दूरे - दूर रहने पर।
२—पावलि - पाया।
,, चीरे - चीर, साडी।
,, बिह - विधि, ब्रह्मा।
,, भेला - हुआ।
,, तूअ - तुम्हारा।
,, से - वह।
,, लुकैलन्ह-लुक रहे, छिप गए।
,, भनइ - कहते हैं।
,, बरजौवति - वर युवति।
,, भाने - कहता है।
३—खन - (क्षण-क्षण) कभी।
,, केबरिया - किवाड।
,, बिनवै - विनय करता है।
४ – बिरियां - वेला, समय।
५—मिसरी - मिश्री।
,, बंस - बाँस।
,, पारिख - परीक्षक।
,, मुये - मर गए।
,, लूण - लवण।
६—बोलिबे - बोलने।
७—फील - हाथी।
,, निसाफ - (इंसाफ) न्याय।
,, हिसका - अनुकरण करनेकी इच्छा।
७—बदराहों - दुर्मार्गी, कुपथ-गामी।
,, एती - इतनी।
८—त - तो।
,, अँबिरथा - व्यर्थ।

१०—सबाही - सभी ।
,, बिरला - कोई एक ।
,, त्रिभंगा - खड़े होनेकी एक मुद्रा जिसमें पेट, कमर, गरदनमें कुछ टेढ़ापन रहता है।
,, टटकना - अड़ना, सजना ।
१२—बिरछ - वृक्ष, पेड़ ।
,, पात - पत्ता, पत्र ।
१३—वारने - निछावर करना ।
१४—धुरवासे - मेघके समान ।
१५—बौरो - मंजरित, खिला ।
१६—मंगन - भिखारी, भिक्षुक ।
,, परवार - समुद्र ।
,, सूम - कृपण, कंजूस ।
१७—पानिप - चमक, आब ।
१९—तमालन - एक प्रकारके ऊँचे एवं सुन्दर पेड़ ।
,, छान - छप्पर ।
,, छाजत - शोभित ।
,, जुन्हाई-(ज्योत्स्ना) चन्द्रिका ।
२०—परवाना - आज्ञा-पत्र ।
२१—नकटा - (नाक+कटा) जिसकी नाक कट गई हो ।
२२—बाँट - तोलनेका पत्थर ।
२३—टका - रुपया, धन ।
,, हूल - हूक, शूल, पीड़ा ।
,, टकटका लगाये रहत - अनिमेष दृष्टिसे देखते हैं—निराश नेत्रोंसे देखते रहते हैं ।

(दोहे)

१—उजार - उजाड़, नष्ट-भ्रष्ट ।
२—सराहिबो - प्रशंसा करना ।
३—तंग - घोड़ोंकी जीन कसनेका तस्मा ।
४—साकित - शाक्त सम्प्रदायवाले ।
५—चकई - मादा चकवा ।

(माताका उपदेश)

१—खेतन - युद्ध-क्षेत्र ।
२—तिरिया - स्त्री ।
३—मनिहौ - मानोगे ।

(युद्धका वर्णन ।)

१—तेगा - खड्ग, तलवार ।
२—धूँवा धूरि एक ह्वैजाय - धूलके उड़नेसे तूफान-सा हो गया ।
३—धनुहन - धनुष ।
४—खाँड़ा - खड्ग ।
५—खुखड़ा - भुजाली ।
६—समुहै - सामने ।
७—जादम - जिस समय ।
८—भन्नाय - फण काढ़कर टूटना ।
९—तलब - वेतन ।
१०—गौने - द्विरागमन ।

—समाप्त—